आधी दुनिया भूखी क्यों ?

(सूसन जॉर्ज की पुस्तक 'हाउ द अदर हॉफ डाइज़' का सारांश)

संक्षेपकर्ता - डॉ. सुरेश मिश्र

सम्पर्क

ग्राम रायपुरिया, तहसील पेटलावाद, जिला झाबुआ, म. प्र.
फोन - 07391-261017, फैक्स - 265583

आधी दुनिया भूखी क्यों ?

(सूसन जॉर्ज की पुस्तक 'हाउ द अदर हॉफ डाइज़'
का सारांश)

संक्षेपकर्ता - डॉ. सुरेश मिश्र

सम्पर्क

ग्राम रायपुरिया, तहसील पेटलावाद, जिला झाबुआ, म. प्र.
फोन - **07391-261017,** फैक्स - **265583**

"पश्चिमी देशों ने विकास संबंधी अपनी अवधारणाओं को तीसरी दुनिया पर थोपने की कोशिश की है। पश्चिम की तकनॉलॉजी पर आधारित इस विकास से तीसरी दुनिया के किसी भी देश में स्वतंत्र और टिकाऊ अर्थ–व्यवस्था कायम नहीं हो पाई है। बल्कि इससे तो वे पश्चिम पर और भी निर्भर हो गए हैं।"

– सूसन जॉर्ज

विषय सूची

प्रस्तावना

अपनी बात

1. चोर कौन? अमीर या गरीब? 5
2. आबादी का हौवा 10
3. ऊँचे तबके का रवैया 14
4. तकनॉलॉजी की मार 19
5. हरित क्राँति ने क्या किया? 25
6. अकाल, इंसानी हथकंडा 30
7. कृषि व्यवसाय (एग्री बिज़नेस) – भारी नफे का धंधा 33
8. खाद्य सहायता – सहायता या हथियार? 39
9. संयुक्त राष्ट्र संघ भी भरोसेमंद नहीं 42
10. विश्व बैंक और विकास 46
11. पश्चिम क्या कर सकता है? 52
12. आप क्या कर सकते हैं? 55

प्रस्तावना

1976 में प्रकाशित सूसन जार्ज की पुस्तक 'हाऊ द अदर हाफ डाइज़' अपने प्रकाशन के बाद से ही चर्चित रही है क्योंकि इसमें तीसरी दुनिया के देशों के विकास से जुड़े सवालों पर नये कोण से विचार किया गया है। सूसन जार्ज ने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि तीसरी दुनिया की बदहाली की समस्या के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये उनकी किताब की सामग्री का खुलकर उपयोग किया जा सकता है। इस छूट का लाभ लेते हुए इस किताब का हिन्दी संक्षेप पहली बार 1998 में श्री सुरेश दीवान की पहल पर दिशा संवाद, रोहना, होशंगाबाद ने प्रकाशित किया था। किताब का संक्षिप्तीकरण डा. सुरेश मिश्र ने किया था। संक्षिप्त पुस्तिका की एक हजार प्रतियां जल्दी ही खत्म हो गयीं और इसकी मांग बनी रही।

सूसन जार्ज ने जो मुद्दे तीन दशक पहले उठाये थे वे आज भी प्रासंगिक हैं और भारत सहित सभी विकासशील देश इन सवालों से जूझ रहे हैं। इसकी प्रासंगिकता को और इसकी मांग को देखते हुए सम्पर्क, (ग्राम रायपुरिया, तहसील पेटलावद, जिला झाबुआ म. प्र.) ने इसे फिर से लोगों तक पहुंचाने का निर्णय लिया है। आशा है, यह पुस्तिका भारत के सामने आ रही समस्याओं को समझने में सहायक होगी।

निलेश देसाई
डायरेक्टर, सम्पर्क

ग्राम रायपुरिया,
तहसील पेटलावद,
जिला झाबुआ म. प्र.

21 नवम्बर 2005

संक्षेपकर्ता की ओर से

सूसन जार्ज की पुस्तक 'हाऊ द अदर हाफ डाइज़' में पुस्तक के शीर्षक के नीचे, विषयवस्तु की ओर इशारा करके लिखा गया है ''द रियल रीज़न्स फॉर वर्ल्ड हंगर', याने दुनिया की भूख के वास्तविक कारण। यह पुस्तक तब लिखी गयी थी जब कम विकसित देशों में पश्चिमी मॉडल के विकास के लिये उठाये गये कदमों के साथ अनेक समस्याएं पैदा हो रही थीं- खासकर गरीबी की और भुखमरी की। तब इन मुद्दों को न सरकारें गंभीरता से ले रही थीं और न जनहित से जुड़े स्वयंसेवी संगठन ही। ऐसे समय सूसन जॉर्ज ने यह खोजपूर्ण और व्यवस्थित पुस्तक लिखकर सारे विश्व का ध्यान इस तरह के विकास से जुड़े इन मुद्दों की तरफ आकर्षित किया था।

तीसरी दुनिया के विकास, या कहें, पिछड़ेपन से जुड़े मुद्दों पर, याने भुखमरी, बढ़ती आबादी, विकास का पश्चिमी ढांचा, हरित क्रान्ति, अकाल, खाद्य समस्या बहुराष्ट्रीय कंपनियां, और विश्व बैंक की भूमिका पर लेखिका ने बहुत बेबाकी से और नये नजरिये से लिखा है। इससे पश्चिमी देशों, खासकर अमेरिका की मंशा पर सवालिया निशान लगे हैं। जनसंख्या की समस्या और हरित क्रान्ति के बारे में उनके विचार तो चौंकाने वाले हैं। शोध के द्वारा एकत्र की गयी जानकारी को जिस तर्कपूर्ण तरीके से सूसन जार्ज ने अपनी किताब में पेश किया है, वह हमें समस्या की गंभीरता के बारे में सोचने को मजबूर करती है। प्रकाशन के करीब 29 साल बाद भी सूसन जार्ज द्वारा उठाये गये मुद्दे और उनके विश्लेषण तीसरी दुनिया के लिये और इस कारण, भारत के लिये पूरी तरह प्रासंगिक हैं।

मैंने सूसन जार्ज की बात सही रूप में और सरल भाषा में पेश करने की पूरी कोशिश की हैं उम्मीद है, तीसरी दुनिया के देशों के विकास के बारे में जो लोग कुछ जानना समझना चाहते हैं, उन्हें यह पुस्तिका विचारोत्तेजक लगेगी।

दिशा संवाद के बाद सम्पर्क ने इसे लोगों तक पहुंचाने का तय किया है, इसके लिये सम्पर्क के डायरेक्टर श्री निलेश देसाई धन्यवाद के पात्र हैं।

सुरेश मिश्र

भोपाल म.प्र.

21 नवम्बर 2005

1. चोर कौन? अमीर या गरीब?

"भूख एक अभिशाप नहीं, षड़यंत्र है"

- सूसन जार्ज

भूख ऐसी चीज नहीं है कि जिससे बचा नहीं जा सकता। आज संसार की वर्तमान या भविष्य की आबादी का पेट भरने के लिए पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन हैं और तकनीकी ज्ञान भी है। वास्तव में भूख एक अभिशाप नहीं बल्कि एक षड़यंत्र है।

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के देशों में पचास करोड़ लोग इस हालत में हैं जिसे विश्व बैंक 'पूर्णतः गरीबी' की संज्ञा देता है। गरीबी से जिस वर्ग को फायदा होता है वह वर्ग स्थिति को ऐसी ही बनाए रखना चाहता है।

विकसित और औद्योगीकृत देश, विशेषकर पश्चिमी देश तीसरी दुनिया या कम विकसित देशों का चौथाई भाग होने पर भी विश्व के अनाज का आधा भाग चट कर जाते हैं। उनके जानवर उतना अनाज खा जाते हैं जितना चीन और भारत की कुल आबादी को लगता है। जबकि 1969-71 में कम विकसित देशों में प्रति व्यक्ति अनाज की खपत 506 पौंड थी, संयुक्त राज्य अमेरिका में 1760 पौंड थी - इसका 9/10 भाग वे मांस, मुर्गी और डेयरी के उत्पादों के रूप में लेते थे क्योंकि मांस, मुर्गी और डेयरी के जानवरों को वहाँ अनाज ही खिलाया जाता है। यूरोप और जापान के आंकड़े इससे थोड़े ही कम हैं। ध्यान रहे कि पौंड गोमांस पैदा करने के लिए 20 पौंड, और 1 पौंड सुअर का मांस पैदा करने के लिए 7-8 पौंड अनाज लगता है।

अमेरिका में जो कृषि होती है वह शायद ही 'कृषि' याने खेती की श्रेणी में आती है। यह अत्यंत मशीनीकृत है। चालीस के दशक में वहाँ 68 लाख कृषि फार्म थे जो सत्तर के दशक में सिर्फ 28 लाख बचे, जिस पर अमेरिका की सिर्फ

4% जनसंख्या अवलंबित है। इन 28 लाख कृषि फार्मों का चार प्रतिशत याने सिर्फ सात हजार कृषि फार्म इतना अनाज पैदा करते हैं कि जिससे अमेरिका की आबादी की आधी जरूरत पूरी हो जाती है और करोड़ों टन अनाज निर्यात किया जा सकता है।

जहाँ तक पशुपालन का सवाल है, वहाँ विशाल फर्मों में मशीनीकृत खेती से अनाज उगाकर हजारों की संख्या में पाली जा रही मवेशियों को खिलाया जाता है। ये मवेशियाँ जमीन पर पैर भी नहीं रखतीं। बस ये तेजी से मोटी की जाती हैं और फिर इनका माँस डिब्बा बंद करके खाने के काम में लाया जाता है।

अमेरिका इस प्रणाली को शेष विश्व में भी प्रचारित कर रहा है। यूरोप में मवेशियाँ अभी भी चारागाह में चरती है। पर सुअर और मुर्गी कारखाने में तैयार खुराक लेते हैं। गोमाँस के लिए कई देश अमेरिका के समान गायों के लिए भोजन घर (फीड लाट्स) बनाने लगे हैं, जहाँ गायों को रखकर अनाज से तैयार की गई पौष्टिक खुराक दी जाती हैं जिससे वे तेजी से बढ़ती हैं। माँस के लिए पाली जा रही गायों और सुअरों के लिए ये देश बड़ी मात्रा में अनाज आयात करते हैं।

जब 1972 में भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान, तंजानिया और सहेल (पश्चिम अफ्रीका) देशों में अनाज की कमी हुई थी तब विश्व खाद्य और कृषि संगठन ने अनुभव किया था कि सिर्फ एक करोड़ से लेकर 1 करोड़ बीस लाख टन अनाज उपलब्ध हो जाने पर यह संकट टल जाता। सवाल यह उठता है कि यदि इतने कम अनाज से इतना फर्क हो सकता था तो गरीब देश खुद क्यों नहीं इतना अनाज उत्पन्न करने की व्यवस्था करते? सच्चाई यह है 'गरीब देशों' में लोग पर्याप्त अनाज पैदा नहीं कर पाते या खरीद नहीं पाते। कुपोषण या पर्याप्त भोजन की कमी से जो नुकसान होते हैं वे जाानना भी जरूरी हैं। अकाल को खत्म करना सरल है पर कुपोषण या अपर्याप्त भोजन से उपजने वाले कुपरिणामों का मुकाबला करना कठिन है। असल में जब तीसरी दुनिया में सचमुच सही ढंग से विकास होगा तभी गरीबी हटेगी और तभी ये कुपरिणाम खत्म होंगे।

कुपोषण या अपर्याप्त भोजन से पीड़ित लोगों में जो मानसिक और शारीरिक कमियाँ पैदा होती हैं उससे वे देश के विकास में समुचित योगदान नहीं दे पाते। यदि कुपोषण से बचता है या पर्याप्त भोजन पाना है तो जरूरी है भोजन। भोजन चाहिए

तो, या तो आप उसे पैदा करें या खरीदें। तीसरी दुनिया में इसके लिए पेहली शर्त यह है कि लोगों के पास भूमि होना चाहिए।

तीसरी दुनिया की अधिकांश आबादी गाँवों में रहती है - एशिया में 80% और अफ्रीका के कुछ भागों में 95 प्रतिशत तक। और इनमें से अधिकांश अपनी गुजर बसर के लिए भूमि पर निर्भर हैं। ये अधिसंख्य लोग अपनी गुजर बसर इसलिए नहीं कर पाते कि जमीन कुछ ही हाथों में केन्द्रित है। दक्षिण अमेरिका में 17% भूमि स्वामियों के पास 90% जमीन है। एशिया में यद्यपि छोटे किसानों की संख्या भी काफी है पर यहाँ भी शिखर के 5% लोगों के पास कृषि योग्य जमीन का 60% भाग है। लेटिन अमेरिका में एक तिहाई ग्रामीण आबादी को 1% कृषि योग्य जमीन से काम चलाना पड़ता है। अफ्रीका में तीन चौथाई लोगों के पास 4% जमीन भी नहीं है। विश्व बैंक के अनुसार 22 कम विकसित देशों कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों के एक तिहाई हिस्से के पास जमीन ही नहीं है। असल में तीसरी दुनिया की भू-स्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली में खामियाँ हैं और इसके कारण तीसरी दुनिया की उत्पादन क्षमत पर विपरीत असर हुआ है।

औपनिवेशिक काल में तीसरी दुनिया के लोगों को वही पैदा करना होता था जो उनके स्वामी पश्चिम के देश चाहते थे। अब तीसरी दुनिया के देश स्वतंत्र होने पर भी वही पैदा कर रहे हैं जो अमेरिका अपने लिए या दूसरे देशों को निर्यात करने के लिए चाहता है।

नगदी फसलें पैदा करने वाले देशों का अपनी नगदी फसलों की अंतर्राष्ट्रीय कीमतों पर नियंत्रण नहीं है। उन्हें जो कीमत मिलती है वे ले लेते हैं। जितने परिमाण में उनके बढ़े उत्पादन का निर्यात बढ़ता है उस अनुपात में उन्हें कीमत नहीं मिल पाती। इसका कारण यह है कि कम विकसित देशों के पास उनकी फसलों को उपभोग के लिए तैयार करने की तकनीक या वितरण चक्र नहीं, जिनसे ज्यादा कीमत मिलती है। यह सब तो अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पास है।

कम विकसित देशों में नगदी फसलों का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है और खाद्य फसलों का क्षेत्र कम होता जा रहा है। 1967 में सहेल का माली देश साठ हजार टन अनाज पैदा करता था। दस साल बाद यह 15 हजार टन हो गया क्योंकि निर्यात की जाने वाली नगदी फसलों को क्षेत्र बढ़ गया। फिलीपीन्स का 55% और मॉरीशस का 80% क्षेत्र निर्यात हेतु नगद फसलें पैदा करता है। निर्यात की चीज़ों

के लिए चाहिए सिंचाई, रासायनिक खाद, कीटनाशक और मशीनें। इस सारी व्यवस्था में छोटे किसान की उपेक्षा होती है। वह पारम्परिक सीमित साधनों से खाद्यान्न उगाता रहता है।

तीसरी दुनिया में पैदा किया गया अनाज कौन खाता है? हम देखेंगे कि कृषि व्यवसाय से जुड़ी पश्चिमी देशों की कम्पनियाँ कम विकसित देशों के उत्पादन को विकसित देशों की ओर मोड़ रही हैं। याने तीसरी दुनिया में पैदा किए गए अनाज का इस्तेमाल विकसित देश कर रहे हैं।

यह अच्छी बात है कि जो भी अनाज कम विकसित देश पैदा करते हैं उसका बहुत कम भाग वहाँ मवेशियाँ खाती हैं और इस प्रकार इन देशों में अनाज इन्सानों के लिए बचा रहता है। पर पश्चिम की कृषि व्यवसाय वाली कम्पनियाँ इस अनाज का रूप बदल कर उसे पशु खाद्य बनाकर उसे कम विकसित देशों में निर्यात करना चाहती हैं जैसे - राल्स्टन, पूरिना, और सेंट्रल सोया। कम विकसित देशों की जमीन विकसित देशों के उपभोक्ताओं के लिए पशुओं को पालने में भी लगी है। उदाहरण के लिए मध्य अमेरिका के देश अमेरिका को ढेर सा गोमाँस निर्यात करते हैं।

विश्व खाद्य संगठन कम विकसित देशों में प्रति व्यक्ति कैलोरी की खपत के आँकड़े प्रकाशित करता है, पर ये निरर्थक हैं क्योंकि सबसे गरीब और अमीर के बीच कैलोरी खपत में बड़ी खाई है। कम विकसित देशों में रहने वाली 50 करोड़ गरीब ग्रामीण औरतों की हालत बड़ी खराब है। किसानों में भी ऐसे किसान कम हैं जो साल भर अपने परिवार को भरपेट भोजन दे सकते हैं। गाँवों में 10% ऐसे लोग हैं जो पूरी तरह से बेकार हैं।

चूँकि कम विकसित देश एक लम्बे समय तक कृषि प्रधान ही रहने वाले हैं और वहाँ आबादी बढ़ने ही वाली है अतः जरूरी है कि वहाँ कम उत्पादन, कम उपजाऊपन और कम आय के दुष्चक्र को तोड़ा जाए। इसके लिए जरूरी होगा कि वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढ़ाँचें में व्यापक फेरबदल किया जाए।

दुनिया की भूख की जिम्मेदार आबादी का दबाव नहीं है, यद्यपि इससे समस्या बढ़ती जरूर है। भूख, आबहवा या मौसम का परिणाम भी नहीं है, हालाँकि उसका असर होता जरूर है। मौसम भूख का कारण नहीं है इसके प्रमाण के रूप

में नेशनल ज्याग्राफिक द्वारा विश्व खाद्य संकट के बारे में प्रकाशित एक लेख का उल्लेख किया जा सकता है। उसमें अफ्रीका के सहेल के मरुस्थल के मध्य ढाई लाख एकड़ के हरे भरे पशु फार्म का उल्लेख है। यह भी उल्लेख है कि जब 1974 में बांग्लादेश में अकाल पड़ा तो भी वहाँ चालीस लाख टन चावल था जो कम से कम चार माह तक पूरे देश की आबादी के लिए काफी था पर लोग इतने गरीब थे कि वह चावल भी वे नहीं खरीद सकते थे। उन दिनों बांग्लादेश के गरीब किसानों द्वारा सस्ते दामों में बेची जा रही जमीन खरीदने के लिए धनी किसान रजिस्ट्रेशन कार्यालय में रात भर लाइन में खड़े रहते थे।

बरटोल्ड ब्रेख्त ने एक बार कहा था कि "अकाल" पड़ते नहीं, वे तो अनाज के व्यापार द्वारा आयोजित किए जाते हैं।

आगे के विवरण से पता चलेगा कि खेती के लिए आवश्यक लगभग सभी चीज़ों पर विकसित देशों का एकाधिकार है - खाद, कीटनाशक, उधारी और शोध सभी पर।

■

"पश्चिमी देशों के आर्थिक शिकंजे से बचने का एक ही रास्ता है- आत्मनिर्भरता..... आत्मनिर्भरता का मतलब यह है कि बाहरी सहायता प्राप्त करने के पहले अपने संसाधनों का, जिसमें आबादी भी शामिल है, अधिकतम उपयोग किया जाए।"

-सूसन जार्ज

2. आबादी का हौआ

"सरकारें आबादी की समस्या से तो निपटना चाहती हैं, पर वे इस समस्या की जड़ याने गरीबी, सामाजिक अन्याय, अस्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा और निरक्षता की बुनियादी समस्याओं से कन्नी काटना चाहती हैं।"

-सूसन जार्ज

गरीब देशों के छोटे किसान या भूमिहीन किसान का जीवन दरिद्रतापूर्ण और परेशानी से भरा है। उसके जीवन को ढालने वाली ताकतों पर उसका बहुत कम नियंत्रण है पर सबसे खराब बात यह है कि समृद्ध लोग समझते हैं कि उसकी समस्याओं का समाधान करने की सर्वाधिक क्षमता उनमें ही है।

सच तो यह है कि अगर आबादी नियंत्रण करना है तो समृद्ध देशों की आबादी ही कम की जाना चाहिए क्योंकि वे ही माँस के रूप में संसार के अनाज का बड़ा भाग चट कर जाते हैं।

यह सच है कि कुछ अविकसित देशों में अनाज के उत्पादन की तुलना में आबादी की वृद्धि की दर ज्यादा रही है। पर कई देशों में, जैसे - अंगोला, बोलीविया, ब्राजील, मिस्र, इथोपिया, भारत, मोजाम्बिक, नाइजीरिया, श्रीलंका, सूडान और अपर वोल्टा में आबादी बढ़न की तुलना में अनाज का उत्पादन बढ़ा है, तब भी वहाँ सभी को पर्याप्त भोजन नहीं मिल पा रहा है। इससे पता चलता है कि बुनियादी समस्या आबादी की वृद्धि नहीं, बल्कि वितरण की और अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक राजनीतिक संकल्प की कमी की है। आबादी कम भी हो जाए और अनाज का उत्पादन बढ़ भी जाए पर यदि लोगों में अनाज खरीदने की शक्ति न हो या अनाज पैदा करने के साधन न हों तो आबादी कम बड़ा भाग भूख और कुपोषण का शिकार ही होगा। ब्राजील में औद्योगिक उत्पादन और अनाज

के उत्पादन की दर पर्याप्त होने पर भी वहाँ समुचित वितरण न होने के कारण अनेक ब्राजीलवासी भुखमरी का शिकार होते हैं।

कम विकसित देशों में 2.5% भू-स्वामी, जिनके पास 100 हेक्टेयर से ज्याद्रा कृषि भूमि है कुल तीन चौथाई कृषि भूमि के स्वामी हैं, उसमें भी चोटी के 0.23% भू-स्वामी आधे से ज्यादा भूमि के मालिक हैं। ये 1960 के खाद्य और कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) के आँकड़े हैं।

भूमि के वितरण, आबादी और खेती योग्य भूमिक के अनुपात के बारे में 1974 में विश्व बैंक के आँकड़े (हेक्टेयर प्रतिव्यक्ति) ये थे - चीन 0.13, उत्तर वियतनाम 0.10, दक्षिण कोरिया 0.07, ताइवान 0.06, इन चारों देशों में प्रति व्यक्ति खेती योग्य भूमि कम होने परभी वहाँ का पूरी आबादी को सामान्य रूप से पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध होता है। इनकी तुलना में भारत 0.30, पाकिस्तान 0.40. से कीजिए। इन देशों में प्रति व्यक्ति खेती योग्य भूमि ज्यादा होने पर भी पूरी आबादी के लिए पर्याप्त भोजन नहीं है। इसका अर्थ यह है कि प्रति व्यक्ति खेती योग्य भूमि के ज्यादा होने से खाद्यान्न की समस्या नहीं सुलझती, वह सुलझती है भूमि के स्वामित्व के सही ढाँचे से।

आबादी के घनत्व का संबंध भी खाद्यान्न की उपलब्धता से नहीं है। बोलीविया में आबादी का घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर सिर्फ 5 व्यक्ति हैं इसमें और भारत में 1972 पर दोनों देशों में अकाल का संकट रहता है। जबकि हालैण्ड में प्रति व्यक्ति वर्ग किलोमीटर आबादी 326 व्यक्ति होने पर भी वहाँ अकाल नहीं पड़ता। खेती योग्य भूमि भी बोलीविया में 0.63 और भारत में .30 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति है जबकि हालैण्ड में सिर्फ 0.06 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति है। निष्कर्ष यह है कि आबादी के दबाव से भुखमरी नहीं होती। भुखमरी और आबादी की वृद्धि राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली की असफलता प्रदर्शित करते हैं।

गरीब देशों की बढ़ती आबादी की मीडिया में बड़ी चर्चा होती है पर इस सवाल के बारे में वैज्ञानिक ढंग से सोचा जाना चाहिए। पहले यह समझना जरूरी है कि गरीब लोग ज्यादा बच्चे क्यों चाहते हैं? समृद्ध लोगों के लिए एक अतिरिक्त बच्चे का मतलब है खर्च का अधिक भार। पर गरीबों के यहां एक अतिरिक्त बच्चे को पालने में कोई ज्यादा खर्च नहीं होता और वही बच्चा 4-5 साल का होने पर परिवार के काम में या कमाई में सहायक होता है। असल में बच्चे गरीबों के लिए

एक आर्थिक आवश्यकता हैं। जिन देशों में वृद्धावस्था पेंशन, सामाजिक सुरक्षा और बीमा जैसी चीजें नहीं है, परिवार ही बुढ़ापे का सहारा होता है। तब बच्चे ही बुढ़ापे में काम आते हैं - शिक्षित हो या अशिक्षित। गरीबों के दृष्टिकोण से देखने पर लगता है कि सामाजिक परिवर्तन के बिना परिवार की वृद्धि पर रोक लगाने का कोई असर नहीं होगा।

ऐसा नहीं है कि अविकसित देश परिवार नियोजन की योजनाएं जोर-शोर से लागू नहीं कर रहे हैं। वे ऐसा कर रहे हैं फिर भी ऐसा दिख रहा है कि वे असफल हो रहे हैं।

भारत का ही उदाहरण लें। भारत के एक जनसंख्या विशेषज्ञ डॉ. बनर्जी के अनुसार भारत में जनसंख्या कम करने के लिए बहुत प्रयास किए गए हैं, पर परिणाम बड़े दयनीय निकले। भारत में 1980 तक जन्म दर 25 तक लाने का संकल्प किया गया था पर वह 38-39 के आसपास ही मंडराती रही। डॉ. बनर्जी कहते हैं की यह तो घोड़े के सामने गाड़ी रखना हुआ। यह नहीं समझा जा रहा है कि परिवान नियोजन का कार्यक्रम तो देश की विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, समस्याओं के हल से संबंधित कार्यक्रमों का एक अंश होना चाहिए।

बनर्जी आगे ठीक ही कहते हैं कि "जनसंख्या से संबंधित नीति निदेशक सिद्धांतों के पालन में नेतृत्व की असफलता को छिपाने के लिए बढ़ती आबादी का बहाना किया जाता है। यह ताज्जुब की बात नहीं है कि आबादी की समस्या से निपटने में सरकारें गरीबी, सामाजिक अन्याय, अस्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा और निरक्षरता की बुनियादी समस्याओं से कन्नी काटना चाहती हैं।..... " उनका संदेश साफ है कि धन या प्रोत्साहन से जन्मदर कम होने वाली नहीं है, कम होगी बुनियादी कारणों को खत्म करने से। भूख और आबादी की वृद्धि दोनों रोग के लक्षण हैं - दोनों एक दूसरे के कारण नहीं हैं। आबादी की वृद्धि पर सीधा आक्रमण करना महंगा भी है और दुःखदायी भी।

'न्यू इन्टरनेशलिस्ट' नामक पत्रिका ने पाँच देशों - फिलीपीन्स, ताइवान, मेक्सिको, ब्राजील और कोरिया की अर्थव्यवस्था से संबंधित जो आँकड़े दिए हैं उनसे निष्कर्ष निकलता है कि यदि आप अपनी राष्ट्रीय जन्मदर ताइवान और कोरिया की तरह घटाना चाहते हैं तो सबसे अच्छा तरीका कंडोम या गर्भ निरोधक बाँटना नहीं

है, बल्कि कारगर भूमि सुधार करना है और लोगों के लिए अधिक आय के साधन जुटाना है। यह भी आश्चर्य की बात है कि अविकसित देशों में स्त्रियों को शिक्षित करने की तरफ कम ध्यान दिया जाता है। बेटी की तुलना में बेटे की चाह करना भी आबादी बढ़ाने में सहायता करती है। सामाजिक वातावरण एवं स्थिति बदलने से बेटे की चाह का पागलपन कम होगा। अविकसित देशों की महिलाएं चीन की महिलाओं की तरह जागरूक और संगठित होंगी तभी वे बच्चों की संख्या के बारे में परिवार में निर्णायक भूमिका अदा कर पाएंगी।

■

"अनाज ताकत का नया रूप है..... अनाज हमारी ताकत का एक अतिरिक्त आयाम है"

- अमरीकी सिनेटर ह्यूबर्ट हम्फ्री

3. ऊँचे तबके का रवैया

"कम विकसित देशों के मध्यम वर्ग का यह कर्त्तव्य था कि पश्चिम के विश्वविद्यालयों से उसने जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसे अपने देश की जनता के सामने रखते.... वे अपने खुद के देश की अर्थव्यवस्था से भी पूरी तरह अनभिज्ञ हैं।"

- फ्रेंज फेनन

सवाल यह है कि कम विकसित देश पश्चिम के देशों की बात मानते क्यों हैं। असल में इसके पीछे पश्चिम की एक दीर्घकालीन रणनीति रही है। यह तो एक जानी मानी बात है कि जो देश उपनिवेश रहे हैं वहाँ एक ऐसा विशिष्ट वर्ग हमेशा रहा है जो औपनिवेशिक ताकत, यह कहें, शासक देश से सहयोग करने के लिए हमेशा उत्सुक रहा है, जिससे उसे सरकार से कुछ फायदा हो जाए। उपनिवेशवाद खत्म हो जाने के बाद शीत युद्ध के जमाने में याने दूसरे महायुद्ध के बाद भी पश्चिम की ताकतें, खासकर अमेरिका कम विकसित देशों के इस श्रेष्ठिवर्ग को अपने प्रभाव में रखने का प्रयास करता रहा। इसके प्रमाण यू.एस. एजेन्सी फार इन्टरनेशनल डेवलपमेन्ट (यू. एस. ए. आई.डी.) के उप प्रशासक श्री काफिन के इस वक्तव्य में मिलते हैं -

"ए.आई.डी. का कार्यक्रम अमेरिका की विदेश नीति का हिस्सा है..... अमेरिका के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विभन्न देशों को प्रभावित करने का सबसे महत्वपूर्ण तरीका यह है कि विदेशों के, खासकर अविकसित देशों के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों को प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए अमेरिका लाया जाए।.... हर साल अमेरिका में 6000 विदेशी करीब पाँच माह रहते हैं और अमेरिका की नीतियों, प्रशासन और उन्नति से प्रभावित होते हैं।" जब ये लोग अपने देश लौटते हैं तब भी अमेरिका प्रशासन सेमीनार, वर्कशाप आदि के माध्यम से उनसे सम्पर्क बनाए रखता है। ये लोग महत्वपूर्ण पदों और स्थानों में रहते हुए अमेरिका की विचारधारा

और नीतियों के पक्षधर बन जाते हैं। ए.आई.डी. के द्वारा सहायता पाने वाली शिक्षण संस्थाएं इस दिशा में अमेरिका के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

ए.आई.डी. ने कृषि के क्षेत्र में भी कई देशों को काफी सहायता दी है। ऐसी सहायता पाने वाले करीब सभी देश कृषि प्रधान हैं और यह सहायता अमेरिका की विचारधारा की जड़ें मजबूत करती है। 1963 में प्रशिक्षण कार्यक्रम के 24% लोग शिक्षा के क्षेत्र के थे और 18% लोग कृषि के। अमेरिका के प्रशिक्षण कार्यक्रम में भाग लेने वाले शिक्षकों और छात्रों के मन में क्रमशः यह बात बैठ जाती है कि उसके देश का विकास अमरीकी प्रणाली के अनुसार ही बेहतर ढंग से होगा।

कम विकसित देशों की फौजों के लिए भी अमेरिका ऐसे ही प्रशिक्षण कार्यक्रम ज्यादा बड़े पैमाने पर आयोजित कराता है। जबकि ए.आई.डी. के प्रशिक्षण कार्यक्रम में सिर्फ 6 हजार लोग प्रतिवर्ष बुलाए जाते हैं, सैन्य प्रशिक्षण में प्रतिवर्ष 28-30 हजार लोग बुलाए जाते हैं, कई बार देखा गया है कि अमेरिका में प्रशिक्षित सेना अपने देश जायज मांग रखने वाली जनताके दमन में ही अपने देश के अत्याचारी शासन की सहायता करती है।

कभी-कभी कम विकसित देशों में आई जागरूकयता के कारण वहाँ अमरीकी दवाब के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी पैदा होती है। यह सच है कि पश्चिमी शिक्षा तीसरी दुनिया में क्रांति पैदा करने का पहला कदम रही है। कभी-कभी यह भी होता है कि जिन देशों में यू.एस.ए.आई.डी. सक्रिय रहा है वहां अमरीकी आर्थिक व्यवस्था तो स्वीकार कर ली गयी है पर विचारों तथा राजनीतिक कार्यवाही की आजादी स्वीकार नहीं की गयी। यदि यह देखा जाए कि कम विकसित देशों "विशिष्ट वर्ग" के माध्यम से 'प्रजातंत्रीय आदर्श' का कितना प्रसार हुआ है तो ए.आई.डी. के प्रयास कारगर नहीं माने जाएंगे। पर यदि कम विकसित देशों में निजी उद्योग धंधों, मुक्त बाजार, और अमेरिकी पूंजी की घुसपैठ को देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि अमेरिका के धन से कम विकसित देशों में अमेरिका को अनुकूल सहयोगी वर्ग मिलने में सहायता मिलती है।

हैरी ट्रूमेन ने स्पष्ट तौर पर कहा था कि अमेरिका में अमरीकी व्यवस्था तब ही जीवित रह सकती है जब वह विश्व की व्यवस्था बन जाए। जार्ज आरवेल ने 1984 में यह सिद्धांत प्रस्तुत किया था कि वास्तविक नियंत्रण तो दिमाग को नियंत्रित करने में है। इसका चरमोत्कर्ष तो तब होता है जब नियंत्रित व्यक्ति को

यह पता ही नहीं होता कि उसके विचार उसके स्वयं के नहीं बल्कि एक बाहरी ताकत के द्वारा उस पर थोपे गए विचार हैं। इस सिलसिले में भारत के बारे में डॉ. बनर्जी का कथन है – "औपनिवेशिक विरासत के कारण और यहाँ के विशिष्ट वर्ग का गहरा संबंध पश्चिम के विशिष्ट वर्ग से होने के कारण भारत के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों के हर पहलू पर अधिक व्यापक विश्व व्यवस्था का नियंत्रण नहीं तो प्रभव अवश्य है।"

इस 'विश्व व्यवस्था' का एक भाग वे निजी फाउण्डेशन हैं जो इस शताब्दी के प्रारम्भ से लोगों के दिल और दिमाग जीतने के प्रयास में लगे हैं। राकफेलर फाउण्डेशन इसका अच्छा उदाहरण है। इस फाउण्डेशन ने उच्च शिक्षा, कृषि, जनसंख्या तथा पर्यावरण आदि से संबंधित संस्थानों की स्थापना की है। 1971 में राकफेलर फाउण्डेशन की सम्पत्ति 80 करोड़ डालर थी। फोर्ड फाउण्डेशन भी ऐसा ही एक संस्थान है। इससे विभिन्न अविकसित देशों में काफी धन लगाया है। फोर्ड फाउण्डेशन की कुल सम्पत्ति करीब 3 अरब डालर है। भारत में भी इसका एक ब्यूरो है।

अमेरिका के बौद्धिक प्रतिष्ठानों की सबसे महान अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सफलता थी खनिजों से सम्पन्न इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादी प्रेसीडेन्ट सुकार्णो का पतन। सुकार्णो की सरकार ने जब राष्ट्रहित में विदेशी कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करना प्रारम्भ किया तो फोर्ड फाउण्डेशन ने 'आधुनिक विशिष्ट वर्ग' की रचना करके स्थिति को नियंत्रित करने का फैसला किया। फोर्ड फाउण्डेशन ने अमेरिका के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों से इण्डोनेशिया के समाज का और विकास के रास्ते की राजनीतिक बाधाओं का अध्ययन कराया। दूसरी तरफ फाउण्डेशन ने इण्डोनेशिया की अभिजात्य वर्ग को अमेरिका के खर्चीले कार्यक्रमों में प्रशिक्षण के लिए भेजा। इण्डोनेशिया के लोगों ने बर्कले विश्वविद्यालय में अध्ययन किया और अमेरिका के प्राध्यापक जकार्ता विश्वविद्यालय आए। राष्ट्रपति सुकार्णो ने इसका विरोध किया पर फोर्ड ने सहायता बंद करने की धमकी दी।

सुकार्णो को हटाने की इस व्यापक योजना में फोर्ड फाउण्डेशन 25 लाख डालर प्रतिवर्ष खर्च कर रहा था। कुछ वर्षों में अमेरिकी विचारधारा से प्रभावित और अमेरिका के पक्षधर विशिष्ट वर्ग का काफी विस्तार हो गया। अंत में अमेरिकी गुप्तचर एजेन्सी (सी.आई.ए.) ने मार्च 1966 में राष्ट्रपति सुकार्णो को अपदस्थ कराने में सफलता प्राप्त की और 9 माह के भीतर इण्डोनेशिया की अर्थव्यवस्था

अमेरिका और बर्कले में पढ़े इण्डोनेशियाई विशिष्ट वर्ग के ढाँचे में ढल गयी। जल्दी ही इण्डोनेशिया के खनिज भण्डार के दोहर में अमेरिका और उसके सहयोगी देश जुट गए। आज इण्डोनेशिया संसार के सबसे गरीब देशों में से एक है। उसका प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पादन 90 डॉलर वार्षिक है। अमेरिका के अर्थशास्त्री और अमेरिका में शिक्षित विशिष्ट वर्ग इण्डोनेशिया के ऊंचे पदों पर बैठकर वही कर रहा है जो फोर्ड फाउण्डेशन या अमेरिका चाहते हैं।

यह कहना उचित होगा कि कम विकसित देशों में पश्चिमी देशों के स्वार्थ और उस देश में शक्ति के स्थानीय आधार ये दोनों मिलकर कम विकसित देशों के गरीब लोगों का भाग्य तय करते हैं। वे यह भी तय करते हैं कि गरीबों को भोजन मिलेगा भी या नहीं।

यदि इस संदर्भ में हम इण्डोनेशिया को देखें तो पता चलेगा कि अमेरिका द्वारा प्रेरित आर्थिक सुधारों ने वहाँ के भूमि सुधार को स्थगित कर दिया और हरित क्राँति के बावजूद वहाँ चावल की कमी हो गयी है। पर इसकी जिम्मेदारी न तो विकास के पश्चिमी ठेकेदार लेंगे और न तीसरी दुनिया के विश्वविद्यालयों के वे विशेषज्ञ लेंगे जो अमेरिका में प्रशिक्षित हुए और अमेरिका के अनुसार सोचते हैं।

विश्व बैंक के एक उपाध्यक्ष होलिस चेनरी ने साफ कहा है : "अनेक अविकसित देशों में (अफ्रीका को छोड़कर) विद्यार्थियों के आर्थिक प्रशिक्षण के लिए अमेरिका को पंसद किया जाता है। जिसका प्रभाव विकासशील देशों की नीतियों में स्पष्ट नजर आता है।" अमेरिका के शिक्षाविद् भी अपनी सरकार की सहायता करने में पीछे नहीं रहते। 1952 के आपात खाद्य सहायता अधिनियम के अन्तर्गत शिक्षकों और छात्रों के आदान-प्रदान द्वारा उच्च शिक्षा में सुधार के लिए भारत के लिए 50 लाख डॉलर तय किए गए। बाद के एक द्विपक्षीय समझौते में अमेरिका में 6 विश्वविद्यालयों ने कृषि विशेषज्ञों के दल भारत भेजे जिससे वे पूरे क्षेत्र के 6 भाग करके बाँट लें। इसी ढाँचे पर फोर्ड फाउण्डेशन और राकफेलर फाउण्डेशन ने 1960 में हरित क्रांति की नीति रोपी थी।

इस सबके द्वारा जो विकास होता है उसे सकल राष्ट्रीय उत्पादन या प्रतिव्यक्ति आय की वृद्धि दर से नापा जाता है जो गलत तरीका है क्योंकि इससे आबादी की सही माली हालत का पता नहीं चलता। विकास को मापना चाहिए आय के वितरण से। प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर से यह प्रकट नहीं होता कि अमीर

और गरीब के बीच खाई कितनी चौड़ी है। इस सारी आँकड़े बाजी में और विकास के आकलन में अधिकांश आबादी का, जो अधिकतर गरीब होती है, कोई महत्व नहीं होता; बल्कि वह विकास के रास्ते में बाधा समझी जाती है क्योंकि उनका दृष्टिकोण 'परम्परावादी' और 'आधुनिकीकरण' के विरुद्ध माना जाता है। ऐसा सोच तर्क संगत नहीं है।

अमेरिका अपना विशिष्ट वर्ग लेटिन अमेरिका, एशिया और मध्यपूर्व में; इंग्लैण्ड, भारत, श्रीलंका और अफ्रीका में; फ्रांस अपने पुराने उपनिवेशों में और जर्मनी तीसरी दुनिया के अनेक देशों में विकसित कर रहे हैं। उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों की शिक्षा प्रणाली बहुत सीमा तक पश्चिमी ढ़ाँचे की है, जो उनके विशिष्ट वर्ग ने विदेशों से अपनाया था। यह शिक्षा प्रणाली उनके खुद के देश के नागरिकों की बुनियादी जरूरतों से संबंध नहीं रखती।

रेने ड्यूमा का मानना है कि कम विकसित देशों में कृषि और खासकर छोटे किसानों को अन्तिम प्राथमिकता दिए जाने का कारण, वर्तमान शिक्षा प्रणाली है "श्रेष्ठ किसानों के बेटे कृषि से विमुख हो जाते हैं..... आधुनिकीकरण के लिए कृषि को प्रशिक्षित लोग उपलब्ध नही हो पाते। कृषि के अनेक विस्तार कर्मचारी, शहरी होते हैं।"

फ्रेंज फेनन अफ्रीका के देशों के संदर्भ में कहते हैं कि "राष्ट्रीय मध्यम वर्ग का यह कर्त्तव्य था कि उसने औपनिवेशिक विश्वविद्यालयों से जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसे अपने देश की जनता के सामने रखते। असल में इस विशिष्ट वर्ग ने सारी आशा को निराशा में बदल दिया.... वे अपने खुद के देश की अर्थव्यवस्था से भी पूरी तरह अनभिज्ञ हैं, और घृणित रूप से बुर्जुआ हैं।" फेनन के अनुसार उनमें उपनिवेशवादियों के कई घृणित चिन्ह हैं। वे निष्कर्षतः कहते हैं कि राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का विरोध होना चाहिए क्योंकि वह किसी काम का नहीं है।

हम फेनन के निष्कर्ष से चाहे सहमत न हों, पर हमें स्वीकार करना होगा कि बुर्जुआ वर्ग अपने देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने में कम ही सहायता हुआ है।

■

4. तकनॉलॉजी की मार

"कम विकसित देश विकास के पश्चिमी ढाँचे, तकनीक और संस्थानों के शिकंजे से जितनी जल्दी मुक्त हो जाएं उतना अच्छा। विकास के ढाँचे पश्चिमी हितों को ही फायदा पहुँचाते हैं।"

- सूसन जार्ज

कोई भी औजार, कौशल या फसल बाहर से यदि किसी समाज में आते हैं तो वे 'उदासीन' या निष्क्रिय नहीं रह सकते। उनका लोगों के जीवन-रोजगार, आगामी पीढ़ी की दिशा, भोजन आदि - पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। बड़े पैमाने की विकास योजनाएं तो और अधिक असर डालती हैं। 'तकनॉलॉजी' से लोक किसी प्रकार की मशीन का अर्थ लेते हैं पर यहाँ 'तकनॉलॉजी' का अधिकर व्यापक अर्थ रहेगा। उदाहरण के लिए, जैसे ही कोई नई फसल पैदा की जाती है, उसके साथ 'शोध' और खाद, कीटनाशक आदि जुड़ जाते हैं। इनसे खपत और आय के स्वरूप में परिवर्तन होगा। उस फसल का संबंध अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से होगा। 'तकनॉलॉजी' का संबंध कम विकसित देशों के विकास के ढ़ाँचे से होगा और उनकी निर्भरता या स्वावलंबन की मात्रा तय करेगा। 'सामाजिक प्रणाली पर भौतिक पर्यावरण के असर' को तकनॉलॉजी कहना ठीक रहेगा।

यह बड़े दुःख की बात है कि कई देशों से लगभग पूरी तरह से यह चुनने का अधिकार छीन लिया गया है कि वे किस तरह का समाज चाहेंगे। यह निर्णय अब ताकतवर देश करते हैं। तथापि यह कहना ठीक होगा कि कम विकसित देशों के शहरी और ग्रामीण गरीबों की तकलीफों और भूख के निदान के लिए स्वावलंबन और सही ढंग के स्वायत्त विकास का रास्ता ही उचित है।

'तकनॉलॉजी' एक जगह से दूसरी जगह ले जाए जाने की कहानी बहुत पुरानी है। फसलों को ही ले लें। सैकड़ों साल पहले की कई फसलें एक देश से दूसरे

देश को गई हैं – गन्ना नौवीं शताब्दी में एशिया से भू-मध्यसागर के आसपास गया। बाद में यह और भी जगह गया। मूंगफली, मक्का, शकरकंद और तम्बाकू भी दूसरे देशों से गए।

नई फसलों ने यूरोप, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के देशों की पीढ़ियों के जीवन को बदल दिया। नए उपनिवेशों में जब नई फसलों पर रोगों ने आक्रमण किया तो शोध का काम शुरू हो गया और उपनिवेशों में तेजी से शोध केन्द्र उभरे। स्थानीय अनाज की फसलों के लिए नहीं बल्कि नगदी फसलों के लिए। नई फसलों ने सारे समाज का और आर्थिक ढाँचे का चेहरा ही बदल दिया।

सोयाबीन के उदाहरण से यह बात साफ होगी कि नई फसल के कितने व्यापक परिणाम होते हैं। सोयाबीन को निर्यात करने से अच्छी कीमत आने लगी। फलतः किसानों ने मक्के की पारम्परिक फसल बोना छोड़ दिया। लोग गेहूं भी कम बोने लगे। क्योंकि सोयाबीन के लिए कम खाद लगती थी और उसकी खेती मशीनों से भी हो सकती थी।

पारम्परिक फसलों की तरह सोयाबीन का उपयोग नहीं होता था और उसके लिए जटिल कारखाने चाहिए। फलतः यह काम के लिए ब्राजील में अमेरिका की चोटी की कम्पनियाँ आ गईं। इससे ब्राजील में विदेशी धन बड़े पैमाने पर लगाया गया। सच पूछा जाए तो सोयाबीन से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को फायदा हुआ, ब्राजील निवासियों को नहीं। सोयाबीन के कारण मक्का की उपज कम होने के कारण मवेशियों और मुर्गियों के लिए मक्का की कमी हो गई और फलस्वरूप माँस और मुर्गों की कीमतें बहुत बढ़ गईं सोयाबीन के कारण चावल का उत्पादन भी कम हुआ।

जब फसल जैसी अत्यंत प्रारम्भिक तकनॉलॉजी उदासीन नहीं होती तब कम विकसित देशों में अधिक जटिल तकनॉलॉजी लाने के क्या परिणाम होंगे इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। इस प्रकार की नीतियों से धनी किसानों को तो फायदा होता है पर सबसे छोटे किसान, जो अनाज का काफी हिस्सा पैदा करते हैं, हाशिए पर रहते हैं। कम विकसित देश विकास के पश्चिमी ढ़ाँचे, तकनीक और संस्थाओं के शिकंजे से जितनी जल्दी मुक्तहो जाएं उतना अच्छा। विकास के ये ढ़ाँचे पश्चिमी हितों को ही फायदा पहुँचाते हैं।

विकसित देशों के लिए तो यही फायदेमंद है कि कम विकसित देश उन्हें कच्चा माल और नगदी फसलें देते रहें। यदि कम विकसित देश से इसे स्वीकार कर लेते हैं तो वे निर्यात के लिए और नगदी के लिए अनाज पैदा करेंगे, स्थानीय लोगों के लिए नहीं। निर्यात से मिले धन से वे औद्योगिक और विलास की सामग्री खरीदेंगे। वास्तविक विकास की वही योजना सफल हो सकती है, जो आबादी के अधिकांश भाग की आवश्यकता को पूरा करने पर आधारित होगी।

एक और बात है जिसकी तरफ परस्पर ध्यान नहीं दिया जाता। किसी भी तकनॉलॉजी को चुनने का स्वाभाविक अर्थ है उस तकनॉलॉजी के विक्रेता को चुनना। औद्योगिक क्षेत्र की बात छोड़ दें, पर अनाज पैदा करने के लिए आप बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा दी जा रही तकनीक, चीज़ें और उर्वरक आयात करें या फिर अपने किसानों को बेहतर स्वावलम्बी बनें। ऐसा न करने से आप अपने देश की आवश्यकता की चीज़ों या खेती के लिए कम संसाधन जुटा पाएंगे क्योंकि आप को तकनॉलॉजी के आयात पर ज्यादा खर्च करना पड़ेगा। जब आप कम संसाधन लगाएंगे तो कम उत्पादन होगा और तब आप उस समस्या के निदान के लिए भी बाहर से सहायता चाहेंगे और यह चक्र चलता ही रहेगा। एक बात यह भी तय है कि खर्चीली तकनॉलॉजी से खर्चीली चीज़ें पैदा होंगी। अनाज के बारे में भी ऐसा ही है।

यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है कि किस प्रकार आधुनिक तकनॉलॉजी से भूख को बढ़ावा मिलता है। यह उदाहरण जानबूझकर नार्वे के तकनीकी सहायता कार्यक्रम से लिया गया है जो एक ऐसा देश है जो साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी के रूप में बदनाम नहीं रहा है।

नार्वे ने केरल में मछली मारने की एक परियोजना लागू करने का तय किया। इसके पीछे विचार यह था कि समुद्र तट पर रहने वाले गरीब मछुआरों का जीवन सुधर जाए, खासकर उन्हें प्रोटीन युक्त और अधिक कैलोरी युक्त भोजन मिले। यह भी योजना थी कि समुद्र तट से दूर जो गरीब लोग हैं उन्हें भी मछली खाने को मिले। यह परियोजना लागू होने के पहले मछुआरे पुराने तरीकों से कम मछलियाँ पकड़ पाते थे, पर उनका परिवार उसमें से कुछ मछलियाँ जरूर खा पाता था। नार्वे का ख्याल था कि मछली पकड़ने का जो तरीका नार्वे के लिए श्रेष्ठ था वही केरल के लिए ठीक होगा। बस वे अपने साथ स्टील या फाइबर के आधुनिक

जहाज लाए जिनमें मछली का पता लगाने के इलेक्ट्रानिक उपकरण थे। जहाज में डीप फ्रीज की सुविधा भी थी।

इस तकनॉलॉजी में मछली पकड़ना पारम्परिक धंधा नहीं रहा बल्कि इस औद्योगिक कार्यवाही में मछुआरा एक मजदूर हो गया।

बड़ी मात्रा में पकड़ी गई मछलियों को दूर के उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिए डीप फ्रिजर और इन्सुलेटेड वाहन रखे गए। इससे मछली महँगी हो गई जिसे खरीदना लोगों के लिए कठिन हो गया। फिर स्थिति सुधारने के लिए सम्पन्न खरीददार खोजे गए। भारत के उच्च वर्ग के खरीददार महँगी मछली खरीदने के लिए तैयार नहीं थे। तब झींगा और लोब्स्टर पकड़े गए जिनकी माँग विदेशों में थी। अंततः इस परियोजना के द्वारा मछलियाँ विदेशों को निर्यात की जाने लगीं और स्थानीय मछुआरों को कोई लाभ नहीं हुआ।

पश्चिमी देशों के आर्थिक शिकजे से बचने का एक ही रास्ता है स्वावलम्बन। स्वावलम्बन का अर्थ यह नहीं है कि अपनी सीमाएं बाहरी प्रभाव के लिए बंद कर ली जाएं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि जीवन की सभी जरूरतों का उत्पादन अपने देश में ही किया जाए और दूसरों से व्यापार न किया जाए। स्वावलम्बन का मतलब यह है कि बाहरी सहायता प्राप्त करने के पहले अपने संसाधनों का, आबादी का भी अधिकतम उपयोग किया जाए।

स्वावलम्बन के रास्ते पर चलने का एक बहुत अच्छा तरीका यह है कि अपने पास जो संसाधन बहुतायत से हैं - याने आबादी - पहले उसका उपयोग करें। किसान पीढ़ियों से शोध और विकास कर रहे हैं नहीं तो वे जिन्दा नहीं रह पाते। यदि खेती के आधार स्तम्भ गरीब किसानों का ध्यान नहीं रखा जाएगा और उनकी बात नहीं सुनी जाएगी तो तकनीकी ज्ञान से केवल धनी लोगों को फायदा होगा। इससे बचना जरूरी है।

किसानों के प्रति कैसे दो अलग-अलग प्रकार के रुख हो सकते हैं यह दो उदाहरणों से स्पष्ट होगा। भारत में महाराष्ट्र के राज्य कृषि विश्वविद्यालय, राहुरी में छात्र किसानों के साथ गाँवों में काम नहीं करते और न ही उनसे चर्चा करते हैं। विश्वविद्यालय के छात्रों का वहाँ के किसानों से कोई संवाद नहीं है और अनुभव व ज्ञान का कोई अदान-प्रदान नहीं है। इसके विरुद्ध महाराष्ट्र में ही एक गांधीवादी

मणिभाई पटेल द्वारा स्थापित भारतीय एग्रो इण्डस्ट्रीज फाण्डेशन और (बी.ए.आई. एफ.) है जहाँ छात्रों को कृषि के साथ ही पशुपालन आदि की भी शिक्षा दी जाती है। छात्रों और शोधकर्ताओं का किसानों से सीधा संबंध है। आसपास के गाँवों के किसानों को बी.ए.आई.एफ. के छात्र, वैज्ञानिक, कार्यकर्ता सीधी मदद देते हैं, और गाँव में प्रयुक्त पारम्परिक तकनॉलॉजी से भी तालमेल रखते हैं। इसके परिणामस्वरूप बी.ए.आई.एफ. के आसपास के सैकड़ों गाँवों में खेती, पशुपालन में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। ऐसा किसानों से जड़कर चलने से संभव हुआ।

चीन ने लोगों के ज्ञान और आधुनिक तकनीक का बहुत प्रभावी उपयोग कृषि के क्षेत्र में किया है। उत्तर वियतनाम में भी कृषि और विज्ञान के छात्र और अध्यापक गाँवों के किसानों के बीच जाकर उनकी समस्याओं का निदान सुझाते हैं। श्रीलंका में धातु विज्ञान के छात्र गाँव जाकर ग्रामीणों से धातुओं से संबंधित पारम्परिक ज्ञान प्राप्त करते हैं और ग्रामीणों की सीमा का ध्यान रखते हुए अपने ज्ञान का लाभ उन्हें देते हैं।

जब स्थानीय लोगों से न तो पूछा जाता है और न तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रिया में उन्हें शामिल किया है तब जो बर्बादी होती है उसका भारत का एक उदाहरण यह है - पिछले दस सालों में डेढ़ लाख हैण्डपम्प बने जिसमें से 60% काम नहीं करते क्योंकि ग्रामीणों को इस सारी प्रक्रिया में सहभागी नहीं बनाया गया। सब काम सरकारी ढंग से हो गया।

कृषि में स्वावलम्बन के लिए कौन से औजार और तकनीक ठीक हैं इसका उत्तर अपनी किताब 'स्माल इज़ ब्यूटीफूल : इकॉनामिक्स एज़ इफ पीपुल मैटर्ड' में ब्रिटिश लेखक शूमाखर ने दिया है। वे कहते हैं कि इसके 'इन्टरमीडिएट टेक्नॉलॉजी' याने मध्यममार्गी तकनॉलॉजी अपनाई जाना चाहिए। इसका अर्थ है पुरानी और आधुनिक तकनीक के मध्य का तरीका। शूमाखर ने 'इन्टरमीडिएट टेक्नॉलॉजी डेवलपमेंट ग्रुप' की स्थापना की। इस ग्रुप ने विश्व के कई हिस्सों में 'इन्टरमीडिएट टेक्नॉलॉजी' के प्रदर्शन से किसानों और ग्रामीणों के काम के कई सस्ते और सुगम तरीके सुझाए।

अब ज़रा देखें कि तीसरी दुनिया की स्त्रियों पर तकनॉलॉजी का क्या असर होता है। तीसरी दुनिया के सभी देशों में स्त्रियाँ खेती का और घर का बहुत सारा

काम करती हैं पर विकास योजनाओं में बहुधा उनकी असुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जाता। लगता है कि सारी विकास योजनाएं मर्दों के लिए ही हैं।

सच तो यह है कि पर्याप्त मात्रा में स्वावलम्बन अपनाए बिना और इसके लिए कोई सार्वजनिक नीति बनाए बिना भूख के मिटाने की दिशा में कोई सार्थक प्रगति नहीं होगी। ऐसी नीति की रूपरेखा बनाने के लिए सबसे पहले सामाजिक उद्देश्य तय किए जाने चाहिए। याने यदि हम उच्च वर्ग को सुविधाएं दें तो शिशु मृत्यु दर भी कम करें और सुनिश्चित करें कि प्रत्येक परिवार को तीन बार भोजन मिले। उद्देश्य तय होने के बाद हमें उन्हें प्राप्त करने के लिए उपलब्ध संसाधनों का आकलन करना चाहिए और जो भी संसाधन प्रकृति ने दिए हैं उनका सकारात्मक उपयोग करना चाहिए। फिर उन बाधाओं पर भी विचार कर लें जिनका सामना हमें करना पड़ेगा। ये बाधाएँ भौगोलिक, आर्थिक या पारिस्थितिकीय हो सकती हैं। तीसरे, अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयुक्त तकनॉलॉजी खुद-ब-खुद विकसित हो जाएगी।

■

"असल में अमरीका खाद्य सहायता उन देशों को देता है, जहाँ उसके राजनीतिक और सैनिक हित रहते हैं।"

- सूसन जार्ज

5. हरित क्राँति ने क्या किया?

"हरित क्राँति से सबसे अधिक फायदा अगर किसी को हुआ है तो वे हैं बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ। हरित क्राँति के जरिए वे कम विकसित देशों में अपने हाथ पैर फैलाने लगीं।"

- सूसन जार्ज

'हरित क्राँति' के नाम से सभी परिचित होंगे। हम यहाँ इसे समझाने की कोशिश करेंगे। हरित क्राँति का मतलब है ऐसे पौधे तैयार करना जो ज्यादा अनाज दें। तीन गरीब महाद्वीपों में परम्परागत अनाज की लम्बाई ज्यादा होती है जिससे उन्हें सूर्य का अधिक प्रकाश मिल सके, आसपास की खरपतवार से वे ऊँचे रहें और ज्यादा बारिश होने पर वे बाढ़ का मुकाबला कर सकें। यदि इस पौधे पर दो बालियाँ पैदा करने की कोशिश की जाती तो सिरे पर अधिक भार होने से पौधा गिर जाता। अतः जरूरत थी छोटे और मजबूत तने वाले पौधे की जो ज्यादा बालियों का वजन बर्दाश्त कर सकें। इसलिए बौनी किस्में विकसित की गईं जिन्हें अधिक उपज देने वाली किस्में कहा गया। इस किस्म के पौधे किसी भी पर्यावरण में हो सकते हैं पर ये हजारों साल से विकसित परम्परागत किस्मों के समान प्रतिरोधी ताकत नहीं रखते। इससे वे रोगों के शिकार जल्दी होते हैं। उन्हें भारी मात्रा में उर्वरक और पर्याप्ता मात्रा में सिंचाई भी चाहिए। याने इन चमत्कारी बीजों का पूरा फायदा पाने के लिए खूब पानी, उर्वरक, कीटनाशक और खरपतवार नाशक चाहिए। इनमें से एक भी चीज़ कम होने पर ये संकर बीज देशी बीजों से भी कम पैदावार देते हैं।

हरित क्राँति की शुरूआत 1943 में मेक्सिको से हुई। मेक्सिको अनाज आयात करता था इसलिए राकफेलर फाउण्डेशन ने वहाँ उन्नत बीजों के विकास के लिए एक शोध केन्द्र की स्थापना की। 1944 और 1967 के मध्य वहाँ गेहूँ का उत्पादन दो गुना और मक्के का उत्पादन तीन गुना हो गया और मेक्सिको अनाज निर्यात भी करने लगा। इस सफलता से उत्साहित होकर राकफेलर

फाउण्डेशन और फोर्ड फाउण्डेशन ने मिलकर एशिया में चावल का उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से 1962 में फिलीपीन्स में अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की। इसमें भी अभूतपूर्व सफलता मिली।

सात साल में याने 1965-66 से 1972-73 तक कम विकसित देशों में गेहूं के उन्नत बीज बोने का क्षेत्र 10 हजार हेक्टेयर से बढ़कर 1 करोड़ 70 लाख हेक्टेयर हो गया और चावल के उन्नत बीज बोये जाने का क्षेत्र 49 हजार हेक्टेयर से बढ़कर 60 लाख हेक्टेयर हो गया। बीजों की उन्नत किस्मों का उपयोग करने से मेक्सिको के बाद भारत, पाकिस्तान, तुर्की और अन्य छोटे देशों में गेहूँ का उत्पादन बढ़ गया। ताइवान, फिलीपीन्स, श्रीलंका और भारत में चावल का उत्पादन भी खूब बढ़ा।

जैसा पहले कहा गया है, कोई भी तकनॉलॉजी लागू करने पर वह सिर्फ तकनॉलॉजी नहीं रह जाती बल्कि उसके व्यापक प्रभाव पड़ते हैं। हरित क्राँति से अविकसित देशों में हुआ यह कि हरित क्राँति से जुड़ी इन आधुनिक चीज़ों के साथ पारम्परिक और देशी तत्वों को शामिल करने की छूट किसान को न रही। हरित क्राँति के लिए जिन चीजों की जरूरत थी याने - बीज, उर्वरक, कीटनाशक, मशीनें सभी आयात की जानी थी। आयात का अर्थ था अधिक लागत और इसका परिणाम था महँगी खेती और परावलम्बन। तो हरित क्राँति से फायदा किसे हुआ यह साफ है। हरित क्राँति के उपादान उपलब्ध करने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आगे आ गईं और कृषि व्यवसाय (एग्री बिजनेस) बहुत फायदेमंद होने लगा। हरित क्राँति के माध्यम से अविकसित देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना विस्तार करने लगीं। यह जरूर है कि सत्तर के दशक में कम विकसित देश स्वयं के उर्वरक के कारखाने खोलने लगे।

1965-66 में जब भारत में अनाज की कमी हुई तो उसे अमेरिका से अनाज बुलवाना पड़ा और तब उसे अमेरिकी दबाव के आगे झुककर अमेरिका को भारत में पूँजी लगाने की छूट देनी पड़ी और उर्वरक उद्योग में अमेरिका को प्रबंधन की छूट देनी पड़ी। फलतः अमेरिका ने उर्वरक कारखानों की मशीनें और रसायन सभी कुछ अमेरिका से बुलाए जाने पर जोर दिया जबकि इनमें से कुछ भारत में ही उपलब्ध थे।

उन्नत संकर बीजों के लिए रासायनिक उर्वरक के अलावा कीटनाशक, ज्यादा दबाव वाले स्प्रेयर, फसलें सुखाने की मशीनें व अन्य चीज़ों की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तैयार थीं और कृषि व्यवसाय में विदेशी कम्पनियों ने खूब धन लगाना शुरू कर दिया और कम विकसित देशों में उनके कारखाने खुलने लगे। इन महँगे उत्पादों को किसान खरीद सकें इसके लिए सरकारें उदार शर्तों पर किसानों को कर्ज देने लगीं। छोटे किसान यह कर्ज चुका पाएंगे या नहीं इसकी फिक्र किसी को नहीं थी। अंत में सबसे अधिक फायदा अगर किसी को हुआ तो वें थीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ।

हरित क्राँति ने कुदरत पर भी असर डाला है। हरित क्राँति की पाँच साल की पड़ताल की अन्तर्गत यूनाइटेड नेशनल रिसर्च इंस्टीट्यूट फार सोशल डेवलपमेंट (यू.एन.आर.आई.एस.डी.) द्वारा किए गए अध्ययन की लेखिका इन्ग्रिड पामर चिंता व्यक्त करती हैं कि – "खाद्य फसलों की कई स्थानीय किस्में विलुप्त होने की कगार पर है जिससे कुछ अनुवांशिकी विशेषताएं हमेशा के लिए खत्म हो जाएंगी। निकट पूर्व के कुछ भागों में कई किस्में लुप्त हो चुकी हैं।" जब खाद्य और कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) की एक बैठक में बीजों के उत्पादन का काम निजी कम्पनियों को देने का प्रस्ताव रखा गया तो कम विकसित देशों के प्रवक्ता ने इसका यह कहकर विरोध किया कि ऐसा होने पर ये कम्पनियाँ ऐसे क्षेत्रों में शोध नहीं करेंगी जो अनुवांशिकी तौर पर आर्थिक रूप से पिछड़े हैं।

एक बात और। चूँकि उन्नत बीज की किस्में विशाल क्षेत्रों में बोयी जाती हैं, कोई रोग लगने पर सारे क्षेत्र की फसल नष्ट हो सकती है। 1971 में फिलीपीन्स में एक रोग लगने से फसलें ऐसी नष्ट हुईं कि अनाज आयात करना पड़ा।

हरित क्राँति से लोगों की खुराक पर भी असर पड़ा है। इस सिलसिले में इन्ग्रिड पामर कहती हैं कि उन्नत किस्म की सभी फसलों में कार्बोहाइड्रेट ज्यादा होता है और प्रोटीन अपेक्षाकृत कम होता है। कम विकसित देशों में लोगों को परम्परागत फसलों याने, मूंगफली, दालों, फल्लियों से प्रोटीन मिल जाता है। पर चूंकि उन्नत बीजों वाली फसलों का प्रोत्साहन देने के लिए सरकार रियायती कीमतों में उर्वरक आदि देती हैं और ऊँची कीमतों में खरीदती हैं इसलिए प्रोटीन देने वाली परम्परागत फसलें कम हो गई हैं। इण्डोनेशिया में यही हुआ है।

फसलों के बारे में अधिकांश शोध विकसित देशों में होती है। पर अधिकांश शोध कार्बोहाइड्रेट के उन्नत बीजों पर, इन्हें पैदा कर सकने वाले क्षेत्र पर, और ऐसे पौधों पर होती है जो सिर्फ रसायनों द्वारा बचाए जा सकते है। अधिक प्रोटीन वाली फल्लियों पर, असिंचित क्षेत्र पर, और रसायन के स्थान पर जैविक तरीके से फसलें बढ़ाने और रोगों से लड़ने पर अपेक्षाकृत कम शोध होती है।

चूँकि तीसरी दुनिया में सिंचित क्षेत्र बहुत कम है इसलिए उन क्षेत्रों की उपज बढ़ाने की कोशिश की जानी चाहिए जहाँ वर्षा ही पानी का स्रोत है। हैदराबाद की इन्टरनेशनल क्राप रिसर्च इन्स्टीट्यूट फार द सेमी एरिड ट्रापिक्स (आई.सी.आर. आई.एस.ए.टी.) इस दिशा में एक छोटा प्रयास है। प्रोटीन प्रदान करने वाली फसलों के बारे में शोध न होना गंभीर एवं अदूरदर्शितापूर्ण बात है। कृषि की पूरी प्रणाली पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। जैसे नत्रजन देने वाली फसलों और दालों को बोने से रासायनिक तत्वों पर निर्भरता कम होगी।

हरित क्राँति ने समाज पर भी पर्याप्त प्रभाव डाला। तकनॉलॉजी का असर समाज पर होता है और ज्यादा जटिल तकनॉलॉजी समाज में ज्यादा हलचल पैदा करती है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि हरित क्राँति ने कम विकसित देशों को लाभ भी पहुँचाया है। इससे अधिक अनाज पैदा हुआ है। पर दुर्भाग्य से इससे हरित क्राँति अपना सकने वाले और हरित क्राँति न अपना सकने वाले किसानों के मध्य गंभीर असमानता पैदा हुई है। किसी देश में जो क्षेत्र हरित क्राँति के अनुकूल थे और जो क्षेत्र अनुकूल नहीं थे उनमें भी गंभीर रूप से असमानता पैदा हुई है।

भारत में हरित क्राँति का फायदा बड़े भू-स्वामियों को हुआ है। छोटे किसानों को नहीं। भारत कें 22% ग्रामीण परिवार भूमिहीन हैं, 47% के पास एक एकड़ से भी कम भूमि है। तीन चार प्रतिशत लोग जो बड़े भू-स्वामी हैं, सरकार द्वारा दी गई सभी रियायतों और सुविधाएं हड़त लेते हैं।

समस्या सिर्फ भारत में नहीं है। यू.एन.आर.आई.एस.डी. ने अपनी पँचवर्षीय परियोजना 'अनाज की नई किस्मों के बड़े पैमाने पर लागू किए जाने के सामाजिक और आर्थिक परिणाम' पूरी कर ली है। इससे पता चलता है कि सारे एशिया और लेटिन अमेरिका में बड़े किसान छोटे किसानों को निचोड़ लेते हैं और भू-स्वामी बँटाई वाले किसानों को बेदखलकर देते हैं। फलतः ये बटाईदार किसान, भूमिहीन मजदूरों या शहर के बेकारों की संख्या बढ़ाते हैं। गाँवों में भुखमरी इसलिए नहीं होती कि फसल कमजोर है, बल्कि इसलिए होती है

कि वहाँ रोजगार नहीं है। पश्चिम ने हरित क्राँति की शुरूआत इसलिए की थी कि वह हरित क्राँति से जुड़ी मशीनें और रसायन बेचकर फायदा कमा सके। इसका उद्देश्य यह भी था कि अनाज का उत्पादन बढ़ाकर सामाजिक स्थिरता को बढ़ावा दिया जाए और साम्यवाद के खतरे से आक्रांत देशों में मध्यमवर्गीय कृषक वर्ग को मजबूत किया जा सके। पर अब पता चला है कि हरित क्राँति लोगों के लिए भोजन जुटाने के लिए नहीं बल्कि फायदे के धंधे के रूप में देखी जा रही है। इससे भूमि, श्रम और पूँजी के बीच; मालिक, किसान और मजदूर के बीच; कृषि, वाणिज्य और उद्योग के बीच और शहर तथा गाँव के बीच रिश्तों में बदलाव की प्रक्रिया शुरू हो गई है।

बदले हुए ऐसे कुछ रिश्तों के उदाहरण ये हैं - 1969 में पूर्वी बंगाल में भूमि पर बलात् कब्जा करने की 346 घटनाएँ हुईं। उसी साल बिहार में भूमिपतियों ने भूमिहीन किसानों पर हमला करके 15 लोग मार डाले। तमिलनाडु में खेती के मजदूरों ने हड़ताल कर दी तो भूमिपतियों ने हड़तालियों पर आक्रमण करके 42 लोगों को जला दिया। पाकिस्तान में भूमि की कीमत 500 गुना बढ़ गई। 1969 में बटाईदारों को बेदखल करने के लिए बिहार में 40000 प्रकरण थे और मैसूर में 80000।

ऐसी सूरत में दो ही रास्ते हैं - कृषि संबंधी सुधार या दमन। कम से कम भारत में तो पहला रास्ता नहीं अपनाया जाएगा। भारत में भूमि सुधार पहले से हैं, पर वे कागज पर हैं। फिर गाँव के ऊँचे तबके से राजनेता भी आते हैं तो फिर वे ऐसे भूमि सुधार क्यों लाएंगे जिनसे उनकी ताकत खत्म हों

कई लोगों ने हरित क्राँति के नुकसानदायक सामाजिक परिणामों के बारे में आवाज उठाई थी। सोलोन बेराक्लो, अर्थशास्त्री एडमंडो लोर्स, एन्ड्रयू पीयर्स इनमें प्रमुख हैं। फुड एण्ड एग्रीकल्चर आरगनाइजेशन (एफ. ए. ओ.) की पत्रिका "सेरेस" में 1960 के बाद हर अंक में हरित क्राँति के दुष्परिणामों पर लेख मिलेंगे। पर इसके मुकाबले हरित क्राँति के पक्ष में ढेरों सामग्री छप रही है और सरकारों को प्रभावित कर रही है।

यदि नई तकनॉलॉजी को सभी लोगों के लिए फायदेमंद बनाने के गंभीर प्रयास हों, तो हरित क्राँति, स्वावलम्बन का और भूख को खत्म करने का रास्ता बना सकती है। उत्तरी वियतनाम इसका अच्छा उदाहरण है। वहाँ सामाजिक न्याय की ऐसी व्यवस्था विकसित की गई है कि हरित क्राँति के दोष नहीं उभर पाए और सभी लोगों को इससे लाभ हुआ। ■

6. अकाल, इंसानी हथकंडा

"यह निश्चित है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ गेहूँ, सोयाबीन, डेयरी उत्पादन और शक्कर तक सीमित नहीं रहने वाली हैं, वे तीसरी दुनिया की कृषि के फायदे वाले क्षेत्रों की तरफ बढ़ रही हैं - शायद अनाज की नकली किल्लत पैदा करने के लिए"

- फ्रेंज फेनन

अन्न इन्सान की बुनियादी जरूरत है पर इसका मतलब यह नहीं कि इसे विश्व में बुनियादी मानवाधिकार माना जाता है। जिनका अनाज पर कब्जा है उनके लिए अनाज उन चीज़ों के समान ही है जिनसे धन पैदा किया जा सकता है। खाद्यान्नों के ताकतवर व्यापारियों का संबंध किसी न किसी रूप में सरकार से रहता है। ये मिलकर कोशिश करते हैं कि लम्बे समय तक कीमतें ऊँची बनी रहें जिससे वे धन कमा सकें।

व्यापार द्वारा खाद्यान्न की नकली कमी पैदा करना कोई नई बात नहीं है। मध्यकाल में, फ्रांस में जो बड़े अकाल हुए, वे तब हुए जब फ्रांस में अनाज की कमी नहीं थी और वहाँ से अनाज निर्यात किया जा रहा था। अकाल के लिए तब सामाजिक व्यवस्था और ढाँचा जिम्मेदार था। आज अगर खाद्यान्न की कमी की बात होती है तो हमें इसके बारे में उन देशों के राजनीतिक संदर्भ में रखकर सोचना चाहिए जिनके पास संसार के कुल अनाज भण्डार का बड़ा भाग है। साथ ही उन भीमकाय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के संदर्भ में रखकर सोचना चाहिए जो खाद्यान्न के व्यापार पर हावी हैं।

ये ताकतें खाद्यान्नों की कीमतें कम नहीं होने देतीं। ज्यादा उत्पादन होने पर कीमतें कम न हो जाएं, इसके लिए यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश या तो खरीदी करके कीमतें कम होने से रोकते हैं या जरूरी होने पर खाद्यान्न को नष्टकर देते हैं।

अनाज की कीमतें ऊँची और अपने कब्जे में बनाए रखने का सबसे बढ़िया उपाय यह है कि प्रथामिकता के रूप में अनाज पैदा न किया जाए। साठ के दशक

के अंत में और सत्तर के दशक के प्रारम्भ में अमेरिका और कनाडा ने किसानों को इसलिए आर्थिक सहायता दी कि ये अनाज पैदा न करें। 'गार्जियन' नामक समाचार पत्र ने स्पष्ट लिखा था कि अमेरिका, अर्जेंटिना, कनाडा, और आस्ट्रेलिया ने यदि खेती का क्षेत्र कम न किया होता और सामान्य दर से अनाज पैदा करते तो वे 1969-72 में 9 करोड़ टन गहूँ अधिक पैदा करते। इसी प्रकार साठ के दशक के अंतिम पाँच वर्षों में जब विश्व में चावल की कीमत गिरने लगी तो कई देशों में उसकी खेती कम कर दी गई और फिर चावल की कीमतें तेजी से बढ़ीं।

अधिकांश लोगों और संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार 1972 का खाद्यान्न संकट तीन कारणों से हुआ - 1. खराब मौसम के कारण 1972 में फसलों की बर्बादी, 2. पेरू की प्रोटीन वाली मछली के उत्पादन में कमी जिससे सोयाबीन की माँग बढ़ी और 3. रूसियों द्वारा भारी मात्रा में अनाज की खरीदी।

कुछ अंशों तक ये सभी कारण काल्पनिक हैं। क्योंकि, 1972 में फसलें सिर्फ 1% कम हुई। पेरू की विशेष मछली एकाएक नहीं बल्कि पिछले वर्षों से ही कम होती जा रही थी। रूसी सरकार द्वारा खरीदी की बात अमरीकी सरकार को 1972 की गर्मी में पता थी तब भी उसने उस समय किसानों को धन दिया कि वे 6 करोड़ एकड़ में अनाज न पैदा करें।

अमेरिका ने हरेक को यह विश्वास दिला दिया है कि विश्वव्यापी मुद्रा प्रसार, खाद्यान्न का संकट और बेकारी के दोषी तेल उत्पादक देश याने ओपेक (ओ.पी. ई.सी.) हैं। जब रासायनिक उर्वरकों की कीमतें बढ़ीं तो उसका दोष भी ओपेक के सिर पर मढ़ा गया।

संसार का अधिकतर हिस्सा खाद्यान्नों के आयात के लिए अमरीका द्वारा उपजाए जाने वाले खाद्यान्नों पर निर्भर रहेगा। इसका मतलब यह होगा कि वह कारगिल, कान्टिनेन्टल ग्रेन, सेंट्रल सोया, आर्चर डेनियल्स, कुक इण्डस्ट्रीज, बंगे, ड्रेफस आदि कम्पनियों के ऊपर निर्भर हैं क्योंकि अमेरिका के खाद्यान्न का सारा निर्यात इन्हीं के पास है। इन कम्पनियों को संचार के आधुनिक साधनों से खासकर उपग्रहके चित्रों से यह पहले से पता लग जाता है कि विश्व के किस भाग किस फसल की कया स्थिति रहेगी। तद्नुसार वे लाभ उठाने के रास्ते तजबीज कर लेते हैं।

ताजा इतिहास में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का विस्मयजनक एक हथकंडा 1972 की गर्मियों में 'ग्रेट अमेरिकन ग्रेन राबरी' के नाम से विख्यात हुआ। रूस को बेचे जाने वाले अनाज से संबंधित इस कांड की बहुत चर्चा हुई थी। इसके बारे

में सिर्फ इतना कहना काफी है क इस व्यापार कांड से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि अनाज के व्यापार में अमेरिका किसानों से अधिक व्यापारियों को फायदा पहुँचाता है और दूसरी यह कि अमेरिकी सकरार और व्यापारी नैतिकता से परे चले जाते हैं।

एक अन्य घोटाला सोयाबीन का है। अमेरिका की जलवायु ऐसी थी कि वहाँ संकर बीजों की सहायता से अधिक प्रोटीन युक्त सोयाबीन खूब पैदा होने लगा। पालतू मवेशियों को खिलाने के लिए यूरोप में उसकी माँग बढ़ गई। अमेरिका से यूरोप को सोयाबीन इतना अधिक भेजा जाने लगा कि अमेरिका में उसकी कमी पड़ गई और उसकी कीमतें बढने लगीं। फलतः सरकार ने सोयाबीन के निर्यात पर बंदिश लगा दिया। इससे यूरोप में सोयाबीन कई गुना बढ़ गईं। निर्यात से अमेरिकी प्रतिबंध तीन माह बाद हटा दिया और बाद में पता चला कि वास्तव में सोयाबीन काफी था और उसकी कमी नहीं थी। पर यूरोप में सोयाबीन की कीमतें बढ़ जाने से अमेरिका को यूरोप में पहले से तीन गुनी कीमत में सोयाबीन बेचने का मौका मिल गया। याने सोयाबीन की कमी नकली नकली ढंग से पैदा की गई थी।

भीमकाय व्यापारी कम्पनियाँ अन्न के भण्डार में गड़बड़ी न कर सकें और कीमतें न बढ़ें, इस पर रोक लगाने का विवेक पूर्ण रास्ता यही है कि अन्न का भण्डार सरकार के हाथ में हो और बाजार की जरूरत के अनुसार भण्डार को रोका जाए या जारी किया जाए। खाद्य और कृषि संगठन एक अरसे से यह पेशकश कर रहा है कि एक विश्व अन्न भण्डार रखा जाए जिसका प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय रूप से हो। पर अन्न के व्यापार में लगे प्रतिष्ठान उसके सख्त खिलाफ थे।

डेयरी के अर्थतंत्र पर भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हस्तक्षेप हुआ और यूनिलीवर और नेसले जैसी कम्पनियों ने अधिकतम लाभ कमाने के लिए कई रास्ते अपनाए। आई.यू.एफ. के एक सम्मेलन में यह बात स्वीकारी गई कि विश्व के प्रमुख निगम अनेक देशों में देसी दूध उद्योगों को विकसित होने से रोक रहे हैं और वे उन उद्योगों में कम खर्चीली श्रमसाध्य तकनॉलॉजी के बदले आयातित और श्रम की बचत करने वाली मशीनें लगा रहे हैं। यह निश्चित है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ गेहूँ, सोयाबीन, डेयरी उत्पादों और शक्कर तक ही सीमित नहीं रहने वाली हैं वे तीसरी दुनिया की कृषि के फायदे वाले क्षेत्रों की तरफ बढ़ रही हैं – खाद्यान्न की नकली किल्लत पैदा करने की प्रक्रिया में योगदान देने के लिए।

■

7. कृषि व्यवसाय (एग्री बिज़नेस) –भारी नफे का धंधा

"इस बात के ढेर सारे प्रमाण है कि कृषि व्यवसाय में लगी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने जिस चीज़ को भी छुआ है वे खत्म हो गई हैं - स्थानीय रोजगार प्रणाली, स्थानीय खाद्यान्न का उत्पादन, उपभोक्ता का स्वाद, यहाँ तक कि गाँव और परिवार का ढाँचा भी।"

- सूसन जार्ज

कृषि व्यवसाय या एग्री बिज़नेस की परिभाषा इस प्रकार की गई है - "खेती के काम आने वाली सभी चीज़ों का उत्पादन और वितरण, खेतों में उत्पादन के काम, खेती की पैदावार का तथा प्रोसेस किए गए खाद्य पदार्थों का भण्डारण, प्रोसेसिंग और वितरण" कृषि व्यवसाय की परिभाषा के अन्तर्गत आने वाली कुछ उत्पादक कम्पनियाँ केवल एक ही चीज का उत्पादन कर रही हैं जैसे सिर्फ उर्वरक या कीटनाशक या ट्रेक्टर। इनमें से कुछ कम्पनियाँ उत्पादन और वितरण की अपनी तकनीक गरीब देशों में लागू करने की कोशिश कर रही हैं। विश्व भूख संकट के संदर्भ में जब हम सोचते हैं तो हमें उन कृषि व्यवसायों (एग्री बिज़नेस) से ज्यादा चिंता होती हैं जो अनाज का उत्पादन करने हेतु किसी दूसरे की जमीन और श्रमका उपयोग करते हैं। यह अनाज स्थानीय जरूरतों को पूरा करने के लिए शायद ही कभी पैदा किया जाता है बल्कि लगभग सदैव ही विकसित देशों को निर्यात करने के लिए पैदा किया जाता है।

संसार में अनाज की बढ़ी कीमतों के कारण कम विकसित देशों में खेती करने में धन लगाना ज्यादा आकर्षक है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की नाक बड़ी जल्दी यह सूंघ लेती हैं कि किस अनछुए क्षेत्र में उन्हें नफा होने की संभावना है। उन्होंने कम विकसित देशों की कृषि में तेजी से प्रवेश कर लिया है। हरित क्राँति से

सामाजिक विनाश तो हुआ ही है पर यदि पारम्परिक ग्रामीण समाज में कृषि व्यवसाय से जुड़ी पश्चिमी कम्पनियों का प्रवेश हो गया तो वह और भी विनाशकारी होगा। इस बात के ढेर सारे प्रमाण हैं कि कृषि व्यवसाय की कम्पनियों ने जिस चीज़ को छुआ है वे नष्ट हो गई हैं - स्थानीय रोजगार प्रणाली, स्थानीय खाद्यान्नों का उत्पादन, उपभोक्ता का स्वाद, यहाँ तक गाँव का तथा पारम्परिक परिवार का ढ़ाँचा भी।

पर कृषि व्यवसाय की विदेशी कम्पनियाँ बार-बार कहती हैं कि वे मानव कल्याण के लिए काम कर रही हैं और वे ही विश्व की भूख की समस्या को हल करने में सक्षम हैं। कुछ कम्पनियाँ तो विकास और सामाजिक उत्थान के दावे भी करती हैं। इसका सबसे बढ़िया उदाहरण राकफेलर की इन्टरनेशनल बेसिक इकानामी कार्पोरेशन (आई.बी.ई.सी.) है जो मुख्यतः लेटिन अमेरिका में काम करती है। इस कम्पनी की सबसे अधिक नफा कमाने वाली फर्म है वेनेजुएला की सी.ए.डी.ए. सुपरमार्केट श्रृंखला। आई.बी.ई.सी. का दावा है कि उसने शहरी उपभोक्ताओं के लिए अनाज की कीमतें 10% कम कर दी हैं और स्थानीय किसानों के माल की खपत के लिए पक्की व्यवस्था कर दी है। आई.बी.ई.सी. ने वेनेजुएला में डेयरी उद्योग को बढ़ावा दिया और कम कीमत में मुर्गियाँ भी उपलब्ध कराईं। इनसे मध्यवर्गीय और शहरी उपभोक्ता को लाभ हुआ। अन्य जगह आई. बी.ई.सी. ने लेटिन अमेरिका में समुद्री भोजन और कॉफी तैयार करके विदेशों को निर्यात किया। यह सब सच है पर यह बात भी ध्यान रखने की है कि असल में आई.बी.ई.सी. का निवेश लेटिन अमेरिका के बेहतर देशों में है जहाँ पर्याप्त मध्यम वर्ग है। पर यही काम आई.बी.ई.सी. बोलीविया जैसे गरीब देश की आदिवासी आबादी के लिए करता तो बात उल्लेखनीय होती।

अब हम कुछ चुभते हुए सवालों पर बातें करें -

क्या कृषि व्यवसाय उन समृद्ध देशों के लिए फायदेमंद हैं, जहाँ उसके कारखाने हैं। क्या विशेष रूप से वह औसत उपभोक्ताओं के लिए लाभप्रद है। इसके लिए अमेरिका का दृष्टांत लिया जा सकता है। वहाँ कृषि व्यवसाय अमेरिका के बहुसंख्यक किसानोंकी कीमत पर फलफूल रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका के आधे कृषि फार्म बेकार हो गय, 1980 में तो इन फार्मों की संख्या 1972 का दसवां हिस्सा रह जाएगी।

उपभोक्ता भी कृषि व्यवसाय की दानवाकार कम्पनियों की दया पर निर्भर हैं। चूंकि खाद्य करने की तकनीक जटिल नहीं है और सभी कम्पनियों के लिए एक सी हैं, इसलिए प्रतियोगिता में आगे बढ़ने का रास्ता केवल मार्केटिंग और पैकेजिंग ही है। इसके लिए विज्ञापन पर भारी भरकम खर्च करना जरूरी है। ऐसे में शोध और विकास पर खर्च कम होता है। इस क्षेत्र की बड़ी खाद्य फर्में दूसरी कम्पनियों में शामिल हो रही हैं, दूसरे उत्पादन हाथ में ले रही हैं और अपना विस्तार भी कर रही हैं। और इस प्रकार अधिक ताकतवर हो रही हैं। ये सब तत्व हम पर बहुत प्रभाव डालते हैं। इन कम्पनियों की कोशिश रहती है कि हम यह समझें कि उनका उत्पाद दूसरी कम्पनी के उत्पाद से विशिष्ट है और उसे ही खरीदा जाना चाहिए।

अमरीकी उपभोक्ता संसार में सबसे समृद्ध हैं पर उसमें भोजन की गुणवत्ता कम होती है। पौष्टिक चीजों की अपेक्षा उनके भोजन में निरर्थक चीज़ें ज्यादा होती हैं – बेकरी की चीजें, आइसक्रीम आदि।

यह भी विचारणीय है कि क्या कृषि व्यवसाय तीसरी दुनिया के लिए, खासकर सबसे गरीब देशों के लिए लाभदायक हैं? कृषि व्यवसाय में लगी कम्पनियाँ अपना माल विकसित देशों को बेचें तो ठीक हैं पर वे ब्राजील और मोरक्को जैसे देशों में बिना पौष्टिकता वाले खाद्य और पेय जैसे – कैण्डी, शीतलपेय, च्युइंगम, आइसक्रीम बेचते हैं। इन बड़ी कम्पनियों के विज्ञापनों और प्रचार के कारण कम विकसित और गरीब देशों के निवासियों के भोजन की आदतें बदल रही हैं। वहाँ के लोग कम आय के बावजूद इन कम्पनियों की वे चीज़ें खरीदने के लिए उत्सुक रहते हैं जो पौष्टिकता से दूर होने के साथ ही महँगी भी होती हैं। मेक्सिको में गाँव का परिवार अण्डे और मुर्गी बेचकर कोक खरीदता है जबकि बच्चे प्रोटीन से वंचित रह जाते हैं। जहाँ भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जाती हैं वहाँ लोगों के भोजन में परिवर्तन तो होता ही है।

ब्राजील में वहाँ की सरकार की उदारता और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के संयोग से जो योजना चल रही है वह यहाँ उल्लेखनीय है। वहाँ देश के कुछ भागों को विकसित करने के लिए अमेजोनिया के विशाल क्षेत्र बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपे जा रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को विस्मयकारी रियायतें दी जा ही हैं।

कृषि व्यवसाय की कम्पनियाँ भूमि के उपयोग की किन्हीं भी प्रणालियों के अनुकूल अपने को ढालने में सक्षम रहती हैं। ब्रुक ब्राण्ड ली विग नामक बहुराष्ट्रीय कम्पनी श्रीलंका के केवल 1% चाय बागानों की मालिक हैं पर श्रीलंका की चाय के निर्यात का एक तिहाई भाग उसके नियंत्रण में है।

कृषि व्यवसाय की कम्पनियाँ वास्तव में स्थानीय अन्य उत्पादन और उसकी बिक्री पर सरकारी नियत्रंण की विरोधी होती हैं। इसलिए जो सरकारें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आमंत्रित करती हैं वे यह समझ लें कि कम्पनी जो भी पैदा करेगी उसका अधिकांश भाग निर्यात होगा और उसका छोटा सा अंश स्थानीय मध्यमवर्ग के बचा रहेगा। उदाहरण के लिए फिलीपीन्स में डेल मोन्टे और डोल नामक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कारखानों को केवल 10% उत्पादन फिलीपीन्स में बिकता है शेष सारा निर्यात होता है। इसी प्रकार फिलीपीन्स की कृषि योग्य भूमि के 55% भाग में निर्यात की जाने वाली फसलें शक्कर, नारियल, केला, रबर, अनानास, काफी, कोको पैदा की जाती हैं और वहाँ के ऊँचे तबके के सहयोग से इन पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का सीधा नियंत्रण है। कोलंबिया में जब एक हेक्टर में कारनेशन पैदा करने के बदले 10 लाख पेसो मिलते हैं तो उसमें गेहूँ या मक्का पैदा करके 12.5 हजार पेसो कौन कमाना चाहेगा। परिणामस्वरूप, कोलंबिया अन्य गरीब देशोंके समान कीमती विदेशी मुद्रा से बुनियादी खाद्य सामग्री आयात करता है। प्रोटीन वाली खाद्य सामग्री, जो इंसान के भोजन में काम आ सकती हैं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा प्रोसेस करके सम्पन्न देशों को निर्यातकी जाती है, जहाँ वह पालतू कुत्तों और बिल्लियों को खिलाई जाती हैं।

कम विकसित देशों की ज्यादा से ज्यादा भूमि विलासिता की महँगी चीजों के लिए अधिकाधिक प्रयुक्त की जा रही है। विलासिता की महँगी चीज़ें कम लोग ही खरीद पाते हैं अफ्रीका अपनी परम्परागत फसलें खजूर, पनीर और खोपरा तेल के साथ ही फल, सब्जियाँ और गोमाँस यूरोप को निर्यात कर रहा है। कम विकसित देशों का अधिकाधिक अनाज पशु आहार के कारखानों को भेजा जाता है, जहाँ से वह मुर्गियों और जानवरों के भोजन के लिए भेजा जाता है जिनका माँस खरीदने की हैसियत स्थानीय लोगों की नहीं रहती।

कोस्टारिका, ब्राजील, डोमीनिकन रिपब्लिक आदि में निर्यात की जाने की वाली फसलों का इलाका बढ़ रहा है और लोगों के भोजन के लिए आवश्यक

बुनियादी अनाजों का इलाका कम हो रहा है और इनकी कीमतें बढ़ रही हैं। गरीब लोग उन्हें खरीद नहीं पा रहे हैं तथा कुपोषण और भुखमरी का शिकार हो रहे हैं।

तीसरी दुनिया के देशों में कृषि व्यवसाय वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कारण सस्ती मजदूरी और भारी नफा तो है ही साथ ही मेजबान देश द्वारा दी जाने वाली कर संबंधी रियायतें भी उनके लिए एक आकर्षण हैं। तीसरी दुनिया के जिन देशों में ये कम्पनियां जाती हैं वहाँ की सरकारें भी इनको सहयोग देती हैं वस्तुतः कृषि व्यवसाय की कम्पनियों का प्रसार सारे संसार में हो रहा है।

कृषि व्यवसाय की कम्पनियों में लोगों का सबसे अधिक नुकसान यदि किसी ने किया है तो वह है नेसले। नेसले के शिशु आहार के प्रचार-प्रसार के कारण अफ्रीका के लाखों बच्चे कुपोषण का शिकार हो गए थे। 1973 में जब इसकी रपट न्यू इन्टरनेशनलिस्ट नामक पत्रिका ने छापी थी तब संसार का ध्यान शिशु आहार के दोषों की तरफ गया। इसके बाद शिशु आहार के डिब्बों पर यह लिखा जाने लगा कि 'माँ का दूध तो बच्चे के लिए हमेशा अच्छा होता है पर यदि किसी कारण वह न पिलाया जा सके तो अमुक शिशु आहार दिया जाए।' पर इसके बावजूद शिशु आहार का प्रचार-प्रसार इतना ज्यादा है कि माँ के दूध के बेहतर होने की सलाह दब सी जाती है। इस दिशा में विश्व खाद्य संगठन के प्रयास भी जैसे नक्कार खाने में तूती की आवाज हैं क्योंकि विश्व खाद्य संगठन के पूरे साल के एक बजट से ज्यादा तो नेसले का विज्ञापन का बजट है। नेसले हो या अन्य कोई कम्पनी, कृषि व्यवसाय में लगी इन सब कम्पनियों की कहानी एक जैसी है। नफा कमाने के सामने इनके लिए मानवता, नैतिकता का कोई मूल्य नहीं।

कृषि व्यवसाय में नफा कमाने और स्थानीय जनता की उपेक्षा करने वाली कम्पनियों की भीड़ में एक कम्पनी ऐसी है जिसकी नुक्ताचीनी नहीं की जा सकती। वह है पश्चिमी केन्या के मूमिया क्षेत्र के शक्कर के कारखाने, जो केन्या सरकार और ब्रिटिश फर्म बूकर मेककोनेल के सहयोगसे स्थापित किए गए हैं। बूकर के इन कारखानों के कारण भूमिया क्षेत्र के किसानों की हालत में अभूतपूर्व सुधार हुआ है और शहरों की तरफ उनका पलायन थम गया है। यह उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि यदि कृषि व्यवसाय में लगी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर सरकारी नियंत्रण हो तो वे निश्चय ही बेहतर योगदान कर सकती हैं।

अलग किस्म के एक कृषि व्यवसाय कम विकसित देशों को अपनी आबादी को बेहतर पौष्टिक भोजन दिलाने में सहायक हुआ है। वह है फुड प्रोसेसिंग मशीनरी उद्योग याने खाद्य तैयार करने की मशीनें तैयार करने का उद्योग। यहाँ यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि वे कम्पनियाँ ही सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं जिन्हें कच्चा माल उपलब्ध करने और तैयार माल बेचने की चिंता नहीं थी। दूसरे शब्दों में, कम विकसित देशों के दृष्टिकोण से वही कृषि व्यवसाय बेहतर है जो एकीकृत नहीं है और जो उत्पादक से लगाकर उपभोक्ता की पूरी श्रृंखला को नियंत्रित नहीं कर सकता या नहीं करना चाहता। प्रोसेसिंग मशीनरी कम्पनियों के दो अच्छे उदाहरण हैं स्वीडनकी अल्फा लवाल और स्विटजरलैण्ड की बुहलर।

ये दोनों कम्पनियाँ कम विकसित देशों के अनाज को सस्ते और पौष्टिक खाद्य में बदलने के लिए मशीनें तैयार करती हैं। राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ काम करके विकास के क्षेत्र में बहुत उपयोगी काम कर रही हैं और दोनों ही स्थानीय टेकनीशियनों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाती हैं। पर दोनों कम्पनियों का मत है कि कम विकसित देशों के लोग सरलता से पश्चिमी प्रचार और विज्ञापन से प्रभावित होकर उनकी चीजों को अपने देश की चीज़ों से बेहतर मानते हैं इससे बचने का इलाज यही है कि जिन कम विकसित देशों ने उपयोगी आहार विकसित कर लिए हैं उन्हें चाहिए कि वे विदेशी आहार पर निमर्मता से बंदिश ला दें। कम विकसित देशों को चाहिए कि वे विदेशों से आहार आयात नकरके आहार तैयार करने वाली मशीनरी आयात करें।

बुहलर और अल्फा लवाल जैसी कम्पनियाँ कारखाने बनाती हैं, लोगों को प्रशिक्षित करती हैं और चली जाती हैं पर दूसरी कम्पनियाँ कम विकसित देशों में आकर जम ही जाती हैं। जिस कम विकसित देश में ये पैर जमाती हैं उसकी ज्यादातर आबादी के हितों के लिए ये काम नहीं करतीं यह साफ है।

कम विकसित देशों को चाहिए कि वे आहार के उत्पादन और वितरण से कम्पनियों का नियंत्रण कम करने के हर संभव प्रयास करें और स्वतंत्र, समतावादी राष्ट्रीय राज्य के मजबूत करने की कोशिश करें क्योंकि ऐसी कम्पनियों से अपनी रक्षा करने का यही रास्ता है।

■

8. खाद्य सहायता – सहायता या हथियार?

"अमेरिका के लिए अनाज एक हथियार है। चर्चा करने के लिए बस्ते में यह हमारा एक प्रमुख औजार है"

- अमरीकी कृषि सचिव, 'बुज़'

इसमें कोई संदेह नहीं कि खाद्य सहायता ने भूखों को भोजन दिया है किन्तु हम कहेंगे कि, जहाँ तक संयुक्त राज्य अमेरिका का संबंध है, उसने ऐसा अनजाने में ही किया है। यहाँ हमारी दिलचस्पी अमेरिका में है क्योंकि उसके खाद्य सहायता कार्यक्रम का इतिहास लम्बा है, और इसलिए कि उसके पास सर्वाधिक तादाद में अनाज है। हर देश अपने साधनों का उपयोग अपने आर्थिक लाभ और विदेश नीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करता है। इसलिए अमेरिका ने अपने खाद्यान्न का उपयोग जिस तरह किया उसके बारे में जानकार आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

अमेरिका के हर्बर्ट हूवर ऐसे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने अमेरिका के हितों के लिए सैनिक कूटनीति की तुलना में अनाज को अधिक प्रभावशाली पाया। राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अमेरिका द्वारा खाद्य सहायता दिए जाने की कहानी प्रथम महायुद्ध से ही शुरू हो जाती है। दूसरे महायुद्ध के बाद अमेरिका ने अपने यहाँ बचे अनाज को विशाल पैमाने पर यूरोप के देशों को दिया। पर जब मार्शल प्लान के अन्तर्गत यूरोप का पुनर्निर्माण पूरा हो गया तो यूरोप को अनाज की जरूरत नहीं रही। और तब अमेरिका को सोचना पड़ा कि अपने यहाँ कि अधिक पैदावार को वह कहाँ खपाए। तब यह तय किया गया कि स्थानीय मुद्रा के बदले ही अमेरिका को अनाज बेचा जाए। और जो धन सहायता पाने वाले देश की मुद्रा में मिले उसे उसी देश के बैंक में जमा करके उन्हीं मदों पर खर्च किया जाए जो अमेरिका चाहे। यह थी पब्लिक लॉ 480 की बुनियाद जो अमरीकी कॉंग्रेस द्वारा 1954 में पारित किया गया। इसका उद्देश्य था "विदेशों में अमेरिकी के कृषि उत्पादों की खपत बढ़ाना, अमेरिका के वैदेशिक सम्बन्ध सुधारना और अन्य उद्देश्य पूरे करना।"

यह ध्यान रखने की बात है कि पी.एल. 480 का उद्देश्य अमेरिका की कृषि व्यवसाय की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सहूलियतें देना भी था। पी.एल. 480 के अन्तर्गत अमेरिका के खाद्यान्नों की बिक्री का काम अमरीकी सरकार नहीं करती थी। बल्कि प्राइवेट कम्पनियाँ करती थीं और उनका समझौता मेजबान देश से होता था। जो अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मेजबान देश में स्थापित होना चाहती थीं उनके स्थानीय खर्च, याने भूमि, मजदूरी, निर्माण के खर्च के लिए, पी.एल. 480 की निधि से कर्ज भी दिया जाता था। इससे कृषि व्यवसाय में लगी अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उन देशों में प्रभाव बढ़ा, जहाँ पी.एल. 480 के अन्तर्गत अनाज भेजा जाता था। कालान्तर में अमेरिका के अन्य माल को भी मेजबान देशों में बाजार मिलने लगा।

यह उल्लेखनीय हैकि जिन देशों को पी.एल. 480 के अन्तर्गत सहायता दी जाती थी वहाँ अमेरिका की इतनी राशि जमा रहती थी कि वह उस देश कृषि विभाग के बजट से ज्यादा होती थी। भारत पी. एल. 480 के अन्तर्गत अमेरिका से सहायता पाता रहा है और भारत की कृषि नीति भी अमरीकी फाउण्डेशनों, विश्वविद्यालयों, निगमों और अमरीकी सरकार द्वारा तय की जाती रही है। एक भारतीय विद्वान ने अपने शोधकार्य में बताया है कि पी. एल. 480 द्वारा भारत में आयात किए गए अनाज ने भारत में अनाज की कीमतें बढ़ा दी। पी.एल. 480 से भारत में मुद्रा प्रसार हुआ जिससे अनाज की कीमतें बढ़ी।

1954-73 के दौरान जिन दस देशों ने पी. एल. 480 के अन्तर्गत सर्वाधिक सहायता प्राप्त की वे हैं - भारत, कोरिया, मोरक्को, ब्राजील, यूगोस्वालिया, दक्षिण, वियतनाम, ट्यूनीशिया, स्पेन, फिलीपीन्स, पाकिस्तान। कुछ कम सहायता प्राप्ता करने वालों में थे अल्जीरिया, बांग्लादेश और ताइवान। इन सभी देशों में अमेरिका के लिए मानवीय पक्ष के स्थान पर उसके स्वयं के आर्थिक और राज़नीतिक हित थे।

अमेरिकी खाद्य सहायता केवल संयोग से ही मानवीय रही है, यह इण्डो-चाइना युद्ध से स्पष्ट है। कम्बोडिया, लाओस और खासकर वियतनाम को अमेरिका ने करोड़ों टन अनाज भिजवाया। अमेरिका ने वहाँ बम गिराकर लोगों को बेघरबार किया और फिर खाद्य सहायता दी। पर जैसे ही ये देश स्वतंत्र हुए अमेरिका ने खाद्य सहायता देना बंद कर दी जबकि इण्डो-चाइना के हजारों एकड़

खेतों और वनों के विनाश के बाद वहाँ अनाज की ज्यादा जरूरत थी। असल में अमेरिका खाद्य सहायता उन देशों को देता है जहाँ उसके राजनीतिक और सैनिक हित रहते हैं।

अमेरिका के कृषि सचिव बुज़ ने साफ कहा था, "अनाज एक हथियार है। चर्चा करने के बस्ते में यह हमारा एक प्रमुख औजार है।" 1974 में तेल उत्पादक देशोंसे अमेरिका ने साफ कहा था कि वे अपने कदम सम्हालें नहीं तो अमेरिका अनाज का उपयोग हथियार के समान वैसे ही करेगा जैसे वे तेल का करते हैं।

अमरीकी गुप्तचर एजेन्सी सी.आई.ए. ने 1974 में एक गुप्त रिपोर्ट प्रकाशित की थी जिसमें कहा गया था कि "निकट भविष्य में अनाज की कमी होने की संभावना है और ये परिस्थितियाँ अमेरिका को इतनी शक्ति दे सकती हैं, जैसी कि उसके पास पहले कभी नहीं थी।" सेनेटर ह्यूबर्ट हम्फ्री ने म्यूनिख सोयाबीन कांफ्रेंस में कहा, "अनाज ताकत का नया रूप है..... अनाज हमारी कूटनीति का एक अतिरिक्त आयाम है।" असल में अमेरिकी राजनीतिज्ञ अनाज के हथियार को लहराने के पक्ष में तो हैं।

अमेरिकी खाद्य सहायता ने भूखे लोगों को अस्थायी रूप से राहत दी पर इस खाद्य सहायता के साथ राजनीतिक और आर्थिक सूत्र संलग्न हैं और यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और सेना को सहयोग देती है। ऐसी स्थिति में यह बेहतर होगा कि गरीब देश अपना अनाज खुद पैदा करें।

■

"अकाल पड़ते नहीं, वे तो अनाज व्यवसायियों द्वारा आयोजित किए जाते हैं।"

-बर्टोल्ड ब्रेख्त

9. संयुक्त राष्ट्र संघ भी भरोसेमंद नहीं

"इसमें संदेह नहीं कि कुल मिलाकर संयुक्त राष्ट्र संघ विकास संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए निजी उद्योग समूहों और पश्चिम के बड़े निजी बैंको को अधिक आमंत्रित कर रहा है।"

- सूसन जार्ज

संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व बैंक के विशेषज्ञों का दल गरीब देशों के लिए विकास - योजनाएँ बनाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के 85% मानवीय और आर्थिक संसाधन सामाजिक और आर्थिक विकास में लगे रहते हैं। 1973 में विश्व बैंक ने अनुभव किया कि अब वह कृषि पर अधिक ध्यान देगा। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित रोम के विश्व खाद्य सम्मेलन ने इस बात पर सभी का ध्यान आकर्षित किया कि संसार के संकटों में से सबसे महत्वूर्ण संकट अन्न का संकट है, जिसका हल ढूँढा जाना चाहिए।

उपर्युक्त बातों के मद्देनजर हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि ये संगठन विकास को किस नजर से देखते हैं और उनके विशाल संसाधनों का तीसरी दुनिया पर क्या असर होता है।

विश्व के 127 देशों में खाद्य और कृषि संगठन की करीब 1600 परियोजनाएँ चल रही हैं। उसके एक ब्यूरो इण्डस्ट्री को-ऑपेरटिव प्रोग्राम (आई. सी.पी.) के काम के बारे में लोग कम ही जानते हैं। इस ब्यूरो के करीब सौ सदस्यों में से चौथाई सदस्य फर्में अमेरिका की हैं। एक तिहाई सदस्य यूरोपियन साझा बाजार देशों की कृषि व्यवसाय वाली कम्पनियाँ हैं।

प्रारम्भ से ही आई.सी.पी. का मुख्य कार्य पाकिस्तान, इथोपिया, डहोमी, केमेरून, श्रीलंका, कोलम्बिया, वेनेजुएला, ब्राजील और लाइबेरिया जैसे कम विकसित देशों को मिशन भेजना रहा है, जिनमें उद्योगों के प्रतिनिधि रहते हैं। ये

लोग संबंधित देश में एक-दो सप्ताह रहकर वहाँ के सरकारी अधिकारियों तथा वित्तीय संस्थानों से मिलते हैं और जिस चीज का उत्पादन करने की पेशकश की गई है उसके लिए उपयुक्त स्थान देखते हैं। लौटकर यह मिशन अपनी रपट प्रस्तुत करता है। 1973 में ब्राजील के अमेजोनिया में नगद फसलों के उत्पादन और वन तथा मछली से संबंधित उद्योगों की स्थापना पर विचार की संभावना हेतु एक मिशन गया। 1974 में माँस और पशु आहार के उत्पादन की संभावनाओं का पता लगाने के लिए एक मिशन इथोपिया गया।

1973 में संयुक्त राष्ट्र संघ एकाएक बहुराष्ट्रीय निगम के अस्तित्व के बारे में सजग हुआ और इस मुद्दे का अध्ययन करने के लिए प्रसिद्ध व्यक्तियों का एक समूह नियुक्त किया। उन्हीं दिनों बहुराष्ट्रीय निगम के प्रतिनिधि पहली बार संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलन में शामिल हुए - प्रेक्षक के रूप में नहीं बल्कि प्रतिनिधियों के रूप में। आई.सी.पी. ने इसे अपनी बड़ी उपलब्धि माना। आई.सी.पी. को विश्व खाद्य सम्मेलन की समितियों में आधिकारिक दर्जा दिया गया, जबकि यह दर्जा केवल देशों की सरकारों को मिला था। इससे उद्योगों के प्रतिनिधि संयुक्त राष्ट्र संघ के संकल्पों में दखल देने में सक्षम हो गए।

कृषि व्यवसाय से संबंधित बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने रोम के विश्व खाद्य सम्मेलनके लिए दो माह पहले टोरन्टो में बैठक करके तैयारी कर रखी थी और उन्होंने अपने प्रस्तावों को विभिन्न देशों के देशों के प्रतिनिधियों और संचार माध्यमों में खूब प्रचारित किया। ये प्रस्ताव पूरी तरह से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों में संबंधित थे। उदाहरण के लिए एक प्रस्ताव यह था कि 'विकासशील देशों में, जहाँ सुधार के परम्परागत तरीकों की अनुमति नहीं है या अव्यवहारिक हैं, वहाँ कृषि व्यवसाय से जुड़ी अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियों के संसाधनों का उपयोग किया जाना चाहिए।'

आई.सी.पी. के प्रयास से कृषि उद्योग और निजी बैंक दोनों संयुक्त राष्ट्र संघ के ढ़ाँचवे में शामिल हो गए। इसमें संदेह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ समग्र रूप में विकास की समस्याओं को हल करने के लिए निजी उद्योगों और निजी बैंक को अधिक आमंत्रित कर रहा है। विश्व खाद्य संगठन ने तो अनोखे ढंग से बहुराष्ट्रीय उद्योगों और व्यापारिक बैंकों को अपने प्रशासकीय ढ़ाँचे में शामिल कर लिया है। जहाँ तक आई.सी.पी. का प्रश्न है वह यह जोर देते नहीं थकता कि वह देशों के

विकास के लिए काम करता है, न कि बहुराष्ट्रीय निगमों के फायदे के लिए। पर जब तक 'यूनिलिवर, नेसले, राल्स्टन, पुरिना, जनरल फुड्स जैसी अंतर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ आई.सी.पी. की सूची में रहेंगी, इस बात की कम ही उम्मीद है कि वह छोटे किसानों के हित के लिए कुछ सार्थक काम कर पाएगी। ऐसा कहने का एक कारण यह भी है कि आई.सी.पी. के पास खाद्यों की फसल और नगद फसल के लिए कोई नीति नहीं है। उसकी कई सदस्य कम्पनियों का व्यवसाय ही ऐसा है कि वे नगद फसलों, मवेशियों के आहार या अनाज के निर्यात में ही रुचि रखती हैं।'

आई.सी.पी. वास्तव में पूर्व खाद्य और कृषि संगठन के पूर्व अध्यक्ष बी. आर. सेन के दिमाग की उपज है। वे विकसित देशों और कम विकसित देशों के मध्य संबंध बढ़ाना चाहते थे और उनका ख्याल था कि उद्योग इसमें सहायक होंगे। पर विकसित और कम विकसित देशों के मध्य संबंध बढ़ाने के लिए खाद्य और कृषि संगठन में तो एग्रीकल्चर सर्विसेज डिवीजन (ए.एस.डी.) नामक एक विभाग पहले से है। फिर आई.सी.पी. की क्या जरूरत थी?

दुर्भाग्य से आई.सी.पी. और ए.एस.डी. दोनों में एक प्रवृत्ति यह है कि ये उत्पादन पर जोर देते है और लगता है कि उपभोग या खपत पर इनकी रुचि नहीं है। दूसरे शब्दों में इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग से जो अनाज पैदा किया जा रहा है उसे कौन खाएगा? समृद्ध उपभोक्ता, छोटा किसान, मवेशियाँ, यूरोप के लोग या अमेरिका के लोग?

संयुक्त राष्ट्र संघ के ढ़ाँचे के एक भाग एफ.ए.ओ. इन्वेस्टमेंट सेंटर (कृषि अनुसंधान संगठन विनियोग केन्द्र) में निजी कम्पनियाँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। कम विकसित देशों में कृषि, वन, मछली उद्योग और कृषि उद्योगों में बाहर के वित्तीय संस्थानों के विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए एफ.ए.ओ. जो कोशिश करती है उसकी जिम्मेदारी विनियोग केन्द्र की ही होती है। इसी प्रकार एफ. ए.ओ. का एक हिस्सा है एफ.ए.ओ. बैंकर्स प्रोग्राम, जिसमें पश्चिम के पन्द्रह मुख्य बैंकों के नाम दर्ज हैं। ये निजी बैंक इस प्रोग्राम के लिए धन जुटाने के आधार हैं।

विश्व खाद्य संगठन और विश्व बैंक की कार्य प्रणाली को देखें तो पता चलता है कि पश्चिम के द्वारा ही परियोजनाएँ तय की जाती हैं, उनके वित्तीय साधन जुगाड़े जाते हैं और उनके द्वारा ही उनके क्रियान्वयन की योजना बनाई जाती है। और

उनके पास विकास का एक ही मॉडल है पश्चिम के लाभ के लिए विकास। इनसे हटकर विचार रखने वाले देशों को धन मिलता।

सम्पन्न देशों को निर्यात करने के लिए खेती किए जाने पर जोर दिया जाता है क्योंकि विश्व की आधी आबादी का विश्व की बाजार व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। यह बात अलग है कि आधी आबादी वे चीज़ें पैदा करती हैं जो विश्व बाजार का अभिन्न अंग हैं। अनाज का उत्पादन तो अनाज उद्योग से जुड़ा है पर वह भूख से या भूख पैदा करने वाली गरीबी से नहीं जुड़ा हैं। अब यह बात अधिकांश जगह अनुभव की जा रही है कि गरीब पहले अपने लिए अनाज पैदा करें न कि निर्यात के लिए।

हालांकि खाद्य और कृषि संगठन, आई.सी.पी. और इन्वेस्टमेंट सेंटर की निष्ठा पर शंका करने का कोई कारण नहीं है फिर भी कृषि व्यवसाय में लगी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और निजी बैंकों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे ऐसे कामें धन लगाएं जो फायदेमंद न हों। वे तो वहीं चीजें बेचेंगे जहाँ ज्यादा कीमत मिलेगी, वहीं, धन लगाएंगे जहाँ सबसे अधिक फायदा होने की उम्मीद होगी और इस काम में संयुक्त राष्ट्र संघ दो तरीके से इन कम्पनियों की सहायता कर रहा है। एक तो वह आई.सी.पी. के माध्यम से उद्योगों के प्रतिनिधियों को विभिन्न देशों को भेजता है कि वे परियोजनाएं तय कर लें। दूसरे, बैंकर प्रोग्राम के माध्यम से बैंकों के अनुरूप परियोजनाओं के लिए धन की व्यवस्था करता है।

■

10. विश्व बैंक और विकास

"जिस बैंक (विश्व बैंक) पर समृद्धों की राजनीति हावी हो और जिसके शिखर पर अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे देश हों वह गरीब देशों की सहायता नाम के लिए ही कर पाएगा। गरीबों के हितों की रक्षा तभी हो पाएगी जब संबंधित देश के ढाँचे में ही बदलाव हो।"

- सूसन जार्ज

विश्व बैंक समूह के अध्यक्ष राबर्ट मेकनामारा ने एक बार कहा था - "विकासशील देशों के कुल राष्ट्रीय उत्पादन (जी.एन.पी.) में एक दशक तक अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी के बावजूद..... करीब 80 करोड़ लोग.... कुपोषण, अशिक्षा और गंदी बस्तियों में जीवन बिता रहे हैं.... विकसित देशों में प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय 200 डालर है। गरीब देशों की तुलना में उसके भोजन में 40% अधिक कैलोरी होती है.... उसके यहाँ की शिशु मृत्यु दर 90% कम है, और उसकी आयु का औसत 50% अधिक है। हमें गरीबों की क्षमता और' उत्पादकता को बढ़ाने पर उतना ही ध्यान देना चाहिए जितना हम समृद्ध लोगों की शक्ति की रक्षा करने में देते हैं...भूमि सुधार का संबंध केवल भूमि से नहीं है। यह तो शक्ति के उपयोग और दुरुपयोग से संबंधित हैं और उस सामाजिक ढाँचे से संबंधित हैं जिसके माध्यम से इस शक्ति का उपयोग और दुरुपयोग होता है।"

विश्व बैंक ने अब कम विकसित देशों में कृषि के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर प्रवेश करने का फैसला किया है अतः हमारे लिए यह जरूरी है कि हम यह जानें कि विश्व बैंक है क्या, वह कैसे काम करता है, पहले उसने कैसा काम किया है और भविष्य में उसकी क्या योजनाएँ हैं। ग्रामीण विकास के लिए उसकी नीतियों पर नजर डालने के लिए पहले यहाँ हम उसके ढाँचे का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

विश्व बैंक समूह के तीन सदस्य हैं। 1. इन्टरनेशनल बैंक फॉर रिकन्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेंट 2. इन्टरनेशनल डेवलपमेंट एसोसिएशन और 3. इन्टरनेशनल फाइनेंस कार्पोरेशन। इन्टरनेशनल बैंक फॉर रिकन्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेंट (आई.बी.आर.डी.) सभी सदस्य देशों को मिलाकर बना है। प्रत्येक देश को उसकी आर्थिक क्षमता के आधार पर तय किए गए अंशदान का 1% सोने में या परिवर्तनीय मुद्रा में 10% खुद के देश की मुद्रा में और शेष 90% जरूरत पड़ने पर आई.बी.आर.डी. को देना पड़ता है। मताधिकार अंशदान के अनुपात में होता है। आई.बी.आर.डी. द्वारा दिए कर्ज 8.5% ब्याज पर विभिन्न देशों को दिए जाते हैं।

बैंक ने 1968 तक मुख्यतः उद्योगों के लिए बुनियादी ढाँचा विकसित करने के लिए ही कर्ज दिया है याने सड़कों, बिजली और बड़े बाँधों के लिए। कृषि की तरफ उसने कम ही ध्यान दिया। पर बड़े बाँधों से जितना लाभ होने की उम्मीद थी उतना लाभ उनसे मिला नहीं। पाकिस्तान का तरबेला बाँध और श्रीलंका की महाबेली नदी परियोजना इसके उदाहरण हैं। तरबेला बाँध के जलाशय के कारण 80,000 लोग विस्थापित हुए जिनकी कोई चिंता नहीं की गई।

इन्टरनेशनल डेवलपमेंट एसोसिएशन (आई.डी.ए.) उन देशों की आवश्यकता के अनुसार बनाया गया है जो विश्व बैंक से लिए गए कर्ज की किसी भी प्रकार चुकाने में असमर्थ हैं। आई.डी.ए. में भी सदस्य देशों के अंशदान से धन आता है ओर दिए गए अंशदान के अनुपात में मताधिकार होता है। यह कमजोर देशों को बिना ब्याज के कर्ज देता है। जो देश आई.बी.आर.डी. से लिया गया कर्ज चुकाने की स्थिति में नहीं होते वे आई.डी.ए. से कर्ज लेकर आई.बी.आर.डी. को कर्ज चुका देते हैं। आई.डी.ए. के कारण आई.बी.आर. डी. से लिए गए कर्ज डूबते नहीं।

इन्टरनेशल फाइनेंस कार्पोरेशन (आई.एफ.सी.) का काम किनजी उद्यमों को कर्ज देना है। इसका ढ़ाँचा भी आई.बी.आर.डी. और आई.डी.ए. के समान है। आई.एम.एफ. ने कृषि व्यवसाय के लिए बहुत कम ऋण दिया है। 1974 में उसने माँस और सब्जियों की प्रोसेसिंग के लिए फिलीपीन्स की आर.एम.एफ. कार्पोरेशन को सब्जियाँ उगाने और उनका निर्यात करने के लिए सेनेगल में एक डच फर्म को और तीसरा कर्ज नाइजीरिया में गन्ना पैदा करके शक्कर बनाने के लिए कर्ज दिया।

कृषि व्यवसाय की कम्पनियों के प्रति आई.एफ.सी. की नीति के दुष्परिणाम कम से कम एक मामले में साफ है। आई.एफ.सी. ने एच.वी.ए. एक डच कम्पनी के सहयोग से इथोपिया में शक्कर पैदा करने के लिए 90 लाख डॉलर लगाए। 1970 तक एच.वी.ए. ने अवश घाटी की कृषि भूमि का पांचवा हिस्सा अपने नियंत्रण में कर लिया। घाटी अन्य छोटे हिस्सों पर ब्रिटिश, इटालियन और इजरायली कम्पनियों ने कब्जा कर लिया।

इसका परिणाम यह हुआ कि अवश घाटी के निवासी अफर लोग जो मुख्यतः पशुपालन पर निर्भर करते थे, अवश घाटी के चारागाह से वंचित हो गए। फलतः 1973 में इथोपिया के अकाल में अफर लोगों की एक तिहाई आबादी याने एक लाख लोग मर गए। इथोपिया की सरकार ने इसका कारण -अकाल- और -अतिचराई- बताया पर सही बात यह थी कि कृषि व्यवसाय से जुड़ी कम्पनियों ने अवश घाटी में अफर लोगों के समृद्ध चारागाहों पर कब्जा कर लिया था। ऐसा भी नहीं है कि शक्कर पैदा किए जाने से इथोपिया में शक्कर सस्ती हो गई हो, वह 30ः महँगी हो गई।

असल में आई.एफ.सी. ने कृषि व्यवसाय से संबंधित जितने भी उद्यम अपने हाथ में लिए उनमें से एक भी स्थानीय आबादी को भोजन देने में सहायक नहीं हुआ। थेसली में आई.एफ.सी. की सहायता से जो कारखाना खुला वह भी पश्चिमी यूरोप को खाद्य पदार्थ निर्यात करता था और स्थानीय किसान कारखाने द्वारा तैयार किए गए माल से वंचित रहे।

1973 में जाकर विश्व बैंक का ध्यान छोटे किसानों की तरफ गया और उसने सूडान, अपर वोल्टा, केन्या, माली, भारत, तंजानिया, नाइजीरिया और उत्तर पूर्वी ब्राजील के छोटे किसानों के 8,39,000 परिवारों और 19,50,000 लोगों को लाभ पहुँचाने वाली नौ परियोजनाओं को सहायता देने का फैसला किया। विश्व बैंक के अध्यक्ष मेकनामारा का ख्याल था कि सिर्फ विश्व बैंक ही गाँव के गरीबों को सीधे फायदा पहुँचाने की कोशिशें कर रहा है और इसका कोई विकल्प भी नहीं है।

समृद्ध देशों की इस दिशा में कोई रुचि नहीं है। वे दिन ब दिन कंजूस होते जा रहे हैं और कम विकसित देशों में उनकी रुचि धीरे-धीरे कम होती जा रही है। गरीब देशों के हितों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ में बनी डेवलपमेंट एसिस्टेंट कमेटी

में विश्व के सबसे समृद्ध 17 देश भी हैं पर वे अपना अंशदान देने से बचते हैं जबकि अंशदान की राशि बहुत कम है।

पश्चिमी देश यह कहते हैं कि तेल पैदा करने वाले देशों, याने ओपेक को इसके लिए धन देना चाहिए। ऐसा माना जाता है कि ओपेक देशों में धन बरसा रहा है। पर सच्चाई यह है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद की दृष्टि से ओपेक देशों को जी. एन.पी., ओ.ई.सी.डी. देशों के जी.एन.पी. का 2.5% है। ओ.ई.सी.डी. देश अपने जी.एन.पी. की तुलना में जो अंशदान दे रहे हैं उससे कहीं अधिक अनुपात में ओपेक देश दे रहे हैं। अरब देश अपने जी.एन.पी. का 3% दे रहे हैं जबकि अमेरिका ने इससे कम धन अंशदान में दिया था। वास्तव में ओपेक देश विश्व बैंक से सदैव सहयोग करते रहे हैं।

ओपेक देशों पर व्यर्थ ही यह लांछन लगाया जाता है कि वे पश्चिम के तथाकथित संकट के लिए जिम्मेदार हैं और वे तीसरी दुनिया के कष्ट को दूर करने के लिए कुछ नहीं कर रहे हैं। यह याद नहीं रखा जाता है कि वे स्वयं ही विकासशील देश हैं। सच तो यह है कि वे विदेशी सहायता, रियायती दर में तेल की बिक्री तथा उपहार में इतना धन दे रहे हैं जो गरीब देशों को बेचे गए तेल के बढ़े हुए दामों के बराबर होगा।

एक अन्य धारणा यह है कि ओपेक देशों का सारा धन अरब देशों को जता है। ऐसा नहीं है। भारत, बांग्लादेश और पाकिस्तान को भी उनसे धन मिलता है।

निष्कर्ष यह कि अमीर देशों की स्वार्थपरता के कारण कम से कम सन् 2000 तक अमीर और गरीब देशों के मध्य खाई बढ़ती ही जावेगी। मेकनामारा कहते हैं कि "हम इसे रोक नहीं सकते पर हमयह कर सकते हैं कि पूर्ण गरीबी को हटाने की दिशा में बढ़ चलें।"

मेकनामारा की घोषणाओं और बैंक के कागजातों से लगता है कि ये हरित क्राँति के एकदम खिलाफ हैं। चाहे मेक्सिको हो या भारत, इनमें कृषि का उत्पादन पर्याप्त रूप से बढ़ने पर भी इन देशों के ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी बढ़ी ही है। भूमिहीन किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है, खासकर एशिया में। पर दुर्भाग्य से विश्व बैंक इस दिशा में कुछ ठोस नहीं कर पा रहा है।

मेकनामारा कहते हैं कि "न तो विश्व बैंक के पास और न ही अन्य किसी के पास इसका स्पष्ट उत्तर है कि किस प्रकार 10 करोड़ छोटे किसानों तक संशोधित तकनॉलॉजी और अन्य साधन कैसे पहुँचाए जाएँ। " पर उनका यह कहना गलत है कि क्योंकि चीन अपने 10 करोड़ ग्रामीण परिवारों तक संशोधित तकनॉलॉजी और अन्य साधन पहुँचाने में सफल हुआ है।

सवाल यह है कि क्या सचमुच विश्व बैंक विभिन्न देशों की नीतियों को बेहतर बनाने की दिशा में कुछ नहीं कर सकता? यदि सचमुच वह भूमि के स्वामित्व के ढाँचे में सुधार लाने के लिए और आबादी के आधे भाग को, जो गरीब है, राष्ट्रीय आय का फिर से वितरण कराने के लिए कमर कस लेता तो क्या वह अपने सदस्य देशों और सहायता पाने वाले देशों पर दबाव नहीं डाल सकता था? मेकनामारा का कहना है - यह मामला सरकारों के राजनीतिक संकल्प का है; सरकारों को चाहिए कि वे क्रॉति का जोखिम न उठाते हुए सुधारों को जोखिम उठा लें। अब विश्व बैंक तो यह राजनीतिक संकल्प उधार देने से रहा।

देखा जाए तो विश्व बैंक सभी कर्जों के साथ शर्त लगा सकता है कि कर्ज लेने वाले देश को अपने ढाँचे में परिवर्तन करना होगा। इसके बिना उसे कर्ज नहीं मिलेगा। विश्व बैंक ने कर्ज लेने वाले देशों पर आर्थिक नीति संबंधी शर्तें, यहाँ तक कि मुद्रा का अवमूल्मयन करने की शर्तें तो थोपी हैं। यदि आई.डी.ए. और विश्व बैंक चाहें तो वे सदस्य देशों पर इस बात का अंकुश लगा सकती हैं कि वे अनुपयोगी नीति न अपनाएँ। विश्व बैंक समय-समय पर कर्ज लेने वाले देशों के विकास की प्रगति और समस्याओं को जायजा लेने के लिए अपनेदल भेजता है। इनके प्रतिवेदनों के आधार पर विश्व बैंक उस देश को कुछ नीतियाँ परिवर्तित करने के लिए कहता है जो उसके विकास में सहायता होंगी।

विश्व बैंक बार-बार कहता है कि वह शुद्धतः एक आर्थिक संस्थान है और उसे राजनीति से कुछ लेना देना नहीं है पर वस्तुतः यदि सदस्य देश की राजनीतिक स्थिति में ऐसा बदलाव आता है जो उसकी आर्थिक स्थिति पर असर डालता है तो विश्व बैंक के निर्णयों पर भी असर पड़सकता है। ईरान के डा. मुसद्दिक ने विश्व बैंक के दो प्रमुख सदस्यों अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के हितों के विरुद्ध देश के तेल उद्योग का राष्ट्रीकरण करना चाहा, वैसे ही ईरान को विश्व बैंक ने सहायता देना

रोक दिया। इसी प्रकार जब तक सुकार्णो का पतन नहीं हो गया और साम्यवादी कहकर हजारों लोग मार नहीं डाले गए, तब तक विश्व बैंक ने इण्डोनेशिया को एक पैसा नहीं दिया।

पर विश्व बैंक ने तीसरी दुनिया के, खासकर अफ्रीका के ऐसे देशों को भी कर्ज दिया है जो अपने देश में समाजवादी ढंग से ग्रामीण विकास कर रहे हैं। शायद विश्व बैंक कुछ उदार हो रहा है और साम्यवादी के प्रति उसका पूर्वाग्रह कुछ कम हो रहा है।

विश्व बैंक के अध्यक्ष मेकनामारा ने 'द एसेंस ऑफ सिक्योरिटी' नामक एक पुस्तक में जो लिखा है वह स्थिति को काफी साफ ढंग से रखता है – 'विश्व के समृद्ध और सुरक्षित देश अनुभव करेंगे कि यदि वे पृथ्वी के दक्षिण गोलार्द्ध में व्याप्त गरीबी की महामारी की तरफ से आँखें मूँदें रहेंगे तो वे न तो समृद्ध रह पाएंगे और न सुरक्षित ही।..... वे विकास के लिए अधिक धन इसलिए नहीं देंगे कि एकाएक अधिक परोपकारी हो जाएंगे, बल्कि इसलिए कि वे अधिक व्यवहारिक हो जाएंगे।"

किन्तु, जिस बैंक पर समृद्धों की राजनीति हावी हो और जिसके शिखर पर अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और जापान जैसे देश हों वह गरीबों की सहायता नाम मात्र के लिए ही कर पाएगा। गरीबों के हितों की रक्षा तो तभी हो पाएगी जब संबंधित देश के ढाँचे में ही बदलाव हो।

■

"आबादी के दबाव से भुखमरी नहीं होती। भुखमरी और आबादी की वृद्धि देश की राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली की असफलता प्रदर्शित करते हैं।"

– सूसन जार्ज

11. पश्चिम क्या कर सकता है?

"यदि गरीब देशों की सरकारें खाद्य सहायता, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और विश्व बैंक की ओर ताकती हैं तो उनसे समस्याओं का जो हल निकलेगा वह शोषणकारी होगा और सभी सूत्र बाहर से संचालित होंगे।"

- सूसन जार्ज

पश्चिम के देशों, समूहों, संस्थानों के पास तीसरी दुनिया के लोगों का भाग्य बदलने की ताकत है। सवाल ये है कि वे दुनिया से भूख का खात्मा करने के लिए क्या कर सकते हैं। तो उनसे निवेदन है कि वे कुछ न करें, दूसरों के मामलों से दूर रहें, अपने प्रशिक्षण कार्यक्रम बंद कर दें, तीसरी दुनिया को तकनॉलॉजी और सहायता न भेजें, अपने प्रशिक्षण कार्यक्रम न चलाएँ, लोगों के दिमाग में यह बात बैठाना बंद कर दें कि विकास का उनका, याने पश्चिम का तरीका श्रेष्ठतम है। संयुक्त राष्ट्र संघ और अन्य अभिकरणों को चलाना बंद कर दें। स्थानीय ऊँचे तबके को पटाना बंद कर दें, अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर लगाम लगा लें और बेचारी तीसरी दुनिया के लोगों को खुद कुछ करने का मौका दें।

किन्तु ऐसा होगा नहीं। ऐसी सूरत में हम पश्चिम के द्वारा प्रस्तावित दो प्रकार के निदानों के बारे में विचार कर लें। एक निदान है तकनॉलॉजी का, जिसका संबंध भोजन और/या प्रोटीन के वैकल्पिक स्रोत से हैं। दूसरा निदान है 1974 के विश्व खाद्य सम्मेलन के परिणामस्वरूप बनी ढेर सारी संस्थाएँ।

भोजन या प्रोटीन के वैकल्पिक स्रोत का जहाँ तक सवाल है, अभी फसलों का 80% भाग, जड़ों, तनों, पत्तों आदि का होता है और फेंक दिया जाता है। यदि उचित तकनॉलॉजी का उपयोग किया जाता है तो इनसे खाद, पशु आहार, या मानव आहार भी तैयार किया जा सकता है। पश्चिम के पशुओं को अनाज के बदले ऐसा ही कुछ सस्ता आहार देने के बारे में भी शोध हो रही है। एस.सी.पी. याने

सिंगल सैल प्रोटीन नामक एक नया सस्ता पशु आहार तो औद्योगिक रूप से बनाया जा रहा है और उसे विकसित देशों में पशुओं को खिलाया जा रहा है। ऐसी चीज़ों को गाँव में भी विकसित करने के लिए तरीके खोजे जा सकते हैं। इस प्रकार की तकनॉलॉजी विकसित किए जाने से दुनिया के भूखे लोगों को बड़ी राहत मिलेगी।

दूसरा विकल्प है संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्थापित एक नया अभिकरण, जो कम विकसित देशों की समस्याओं से संबंधित सभी संस्थानों के प्रयासों को जोड़ने का काम करेगा। यह है कि वर्ल्ड फुड कौंसिल। पर इस पर भी अमेरिका का पूरा प्रभाव है और जब तक ऐसा रहेगा तब तक तीसरी दुनिया के देशों को कुछ ज्यादा उम्मीद नहीं करना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अंग यह भी योजना बना रहे हैं कि ऐसी व्यवस्था भी हो कि संकट के समय गरीब देशों को तुरन्त अनाज भेजा जा सके। वर्ल्ड फुड सिक्योरिटी सिस्टम याने विश्व खाद्य सुरक्षा प्रणाली की भी योजना है जिसमें प्रस्ताव है कि हर देश अनाज का संग्रह रखे और इस संग्रह का उपयोग अंतर्राष्ट्रीय रूप से हो। जब किसी अनाज की संसार में कमी हो तो इन संग्रहों से स्थिति को और कीमतों को नियंत्रित किया जाए। यह भी प्रयास हो रहा है कि उपग्रह और मौसम के आधार पर यह चेतावनी दी जा सके कि अमुक वर्ष विश्व को कितने अनाज की जरूरत पड़ेगी। कृषि के विकास में धन लगाने की एक दीर्घकालीन योजना पर भी विचार हो रहा है।

अब प्रश्न यह है कि कम विकसित देशों को क्या करना चाहिए? उन्हें अधिक भूमि में नकदी फसलें नहीं बोना चाहिए, कृषि की महँगी और नुकसानदायक तकनॉलॉजी आयात नहीं करना चाहिए, अपने यहाँ के श्रेष्ठ लोगों को पश्चिमी विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए नहीं भेजना चाहिए, भारी मात्रा में कर्ज नहीं लेना चाहिए और अपनी जमीन पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आमंत्रित नहीं करना चाहिए। संक्षेप में परावलम्बन को खत्म करके उन्हें स्वावलम्बी होना चाहिए।

कम विकसित देशों में कुछ देश अब कुछ साहस दिखा रहे हैं। इसके लिए उन्हें कुछ तो तेल उत्पादक देशों से प्रेरणा मिली है और कुछ अपने देश के लोगों की बढ़ती दुर्दशा के कारण वे ऐसा कर रहे हैं। कम विकसित देशों को अपने हितों की रक्षा के लिए एकजुट होने से पीछे नहीं हटना चाहिए। विकसित देश पर लगाकर और सहायता के माध्यम से कम विकसित देशों को जितना योगदान दे रहे हैं उससे

अधिक योगदान कम विकसित देश विकसित देशों की समृद्धि में दे रहे हैं। कम विकसित देशों को चाहिए कि वे अपने खुद के प्राकृतिक और औद्योगिक संसाधनों का उपयोग करके विदेशों को अपना धन जाने से रोकें। इसके लिए उन्हें अपनी नीतियों और योजनाओं को नए साँचे में ढालना होगा।

यदि कम विकसित देशों के गरीबों को भोजन उपलब्ध कराना है तो गरीबों को पहले खेती के लिए जमीन देना होगा। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ अनाज का संकट खत्म हो गया है। चीन, उत्तर वियतनाम और क्यूबा ने अपनी व्यवस्था की कमियों को पहचाना और बिना पश्चिम की सहायता के अपनी समस्या हल कर ली। इन देशों में अनाज के उत्पादन के लिए दमन या अत्याचार का सहारा नहीं लिया गया। सचाई यह है कि वहाँ लोग संगठित हुए और उन्होंने व्यक्तिगत रूप से और मिलजुलकर उत्पादन में जबर्दस्त रुचि ली।

जहाँ जमीन ज्यादा है उन देशों में छोटे किसानों को जमीन बाँटकर उनके समूह बनाना ठीक होगा, जिससे खेती के संसाधनों का उपयोग पूरी तरह से हो सके। ग्रामीण किसानों की स्थिति मकें सुधार करने के लिए यह भी जरूरी है कि सरकारें, उत्पादन के लिए आवश्यक चीज़ें बेचने और उत्पादन को खरीदने का एकाधिकार रखने वाले बिचौलियों को खत्म करें। किसानों को उपयुक्त मूल्य पर खेती के लिए आवश्यक चीज़ों याने बीज, उर्वरक आदि की व्यवस्था सरकारों को करना चाहिए और किसान को अपने उत्पादन का सही मूल्य मिले यह भी सरकारों को देखना चाहिए। कम विकसित देशों के लिए औद्योगीकरण भी जरूरी है पर पहले उन उद्योगों का विकास होना चाहिए जो कृषि की उन्नति में सहायक हों।

कम विकसित देशों को चाहिए कि वे चीन के पद चिन्हों पर चलें और पश्चिम की सहायता पर निर्भर रहकर अपनी खुद की ताकत पर भरोसा करें। भूख को खत्म करने के लिए जरूरी है सामाजिक परिवर्तन। यदि गरीब देशों की सरकारें खाद्य सहायता, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और विश्व बैंक की ओर ताकती हैं तो उनसे समस्याओं का जो हल मिलेगा वह शोषणकारी होगा और सभी सूत्र बाहर से संचालित होंगे। इससे बचने के लिए शासक वर्ग को और जनसाधारण को सहारा से काम लेना होगा।

■

12. आप क्या कर सकते हैं?

"पहले आप खुद की जानकारी बढ़ाएं। .... फिर लोगों को जागरूक करने की कोशिश करें।"

- सूसन जार्ज

दुनिया से भूख को मिटाने के लिए आप क्या योगदान दे सकते हैं? पहले आप खुद की जानकारी बढ़ाएं। याद रखें कि सरकारों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, प्रतिष्ठानों के पास प्रसार, प्रचार के बहुत विकसित और विशाल साधन होते हैं और पत्रिकाओं के कई लेख तो इनके द्वारा प्रचारित पर्चों से जैसे के तैसे लिए जाते हैं। पत्रकारों को भी इतना समय नहीं रहता कि वे लेखों की सामग्री की छानबीन करें। तो जब आप अपने देश को दी जा रही विदेशी सहायता, कृषि व्यवसाय या बहुराष्ट्रीय कम्पनी के शुरू होने की बात पढ़ें तो उपर्युक्त बात याद रखें। यदि कोई बात आपको खटकती हो तो लेखक को लिखें और सम्पादक के नाम पत्र लिखें।

लोगों को जागरूक करने की कोशिश करें। हो सके तो जानकारी देने वाले लेख लिखें। यदि लेख लिखते समय कोई जानकारी की जरूरत हो तो पुस्तकालय जाकर जानकारी एकत्र करें।

किसी ऐसी संस्था में शामिल हो जाएं जो तीसरी दुनिया के गरीबों की हालत सुधारने के लिए प्रयासरत है। दुनिया में ऐसी कुछ प्रसिद्ध संस्थाएँ हैं जो इस दिशा में काफी कुछ कर रही हैं। और यदि कोई संस्था नहीं है तो खुद ही एक समूह बना लें। इससे आपकी ताकत बढ़ेगी। विभिन्न योग्यता वाले लोगों का सहयोग लें और उनसे सम्पर्क बनाए रखें। अपने विचारों से लोगों को अवगत कराएँ, उसका प्रचार करें और राजनीति तथा मीडिया के लोगों से निकट सम्पर्क बनाए रखें क्योंकि उन्हें सुनने वाले भी काफी लोग होते हैं, जो फिर आपकी बता भी सुनेंगे। समूह के सभी लोगों को पते नोट करके रखें, और, अपना पता भी सभी को दें या प्रचार सामग्री में छापें। संस्था या समूह की गतिविधियों के लिए निःसंकोच धन एकत्र करें और उसकी जानकारी सभी को दें। महिलाएँ भी बहुत कुछ कर सकती

हैं। वे संगठित हों और उपभोक्ता मंच के माध्यम से खाद्य पदार्थों में होने वाली गड़बड़ियों के विरुद्ध अदालती कार्यवाही करें।

कृषि व्यवसाय से जुड़ी कम्पनियां अपने खाद्य उत्पादों के बारे में बहुत संवेदनशीलता होती हैं इसलिए किसी कम्पनी द्वारा निर्मित किसी खाद्य या पेय सामग्री में आपको कोई कमी दिखे तो उसके बारे में कम्पनी को लिखें और समाचार पत्रों में भी लिखें। बेहतर हो कि आप कम्पनी के शेयर खरीद लें और शेयर होल्डरों की सामान्य बैठक में कम्पनी के उच्चाधिकारियों से इन बिन्दुओं पर सवाल पूछें – उत्पाद की गुणवत्ता, नफा, उत्पाद से किस लाभ होगा, कर्मचारियों के वेतन और सेवा शर्तें, स्थानीय लोगों को कम्पनी से क्या लाभ हैं, माल कहाँ बेचा जाता है आदि-आदि।

चूँकि गाँव के गरीबों की स्थिति में परिवर्तन तभी होगा जब देश में सामाजिक परिवर्तन होगा, इसलिए देश के ऐसे समूहों को सहायता देना ठीक होगा जिनका उद्देश्य सारे समाज को बदलना है। देखें हम सब इस दिशा में याने संसार से भूख का संकट मिटाने के लिए क्या कर सकते हैं।

■